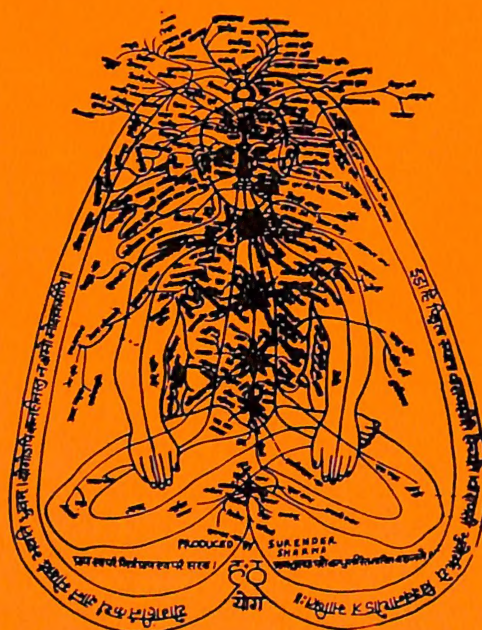
हठयोग

एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका



सुरेन्द्र कुमार शर्मा

हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं
हठयोगप्रदीपिका

—सुरेन्द्र कुमार शर्मा

हठयोग—आत्मस्थिति रूप परम स्वरूप को प्राप्त करने के लिए भारत की प्राचीनतम साधना-पथ का प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण भारतीय दर्शन परम्परा में इसका अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि कायाघट के हठयोगाग्नि में तापन को परमशिवरूप जल की प्राप्ति का साधन माना गया है। इसी यौगिक प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों (षट् कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और कुण्डलिनी-जागरण इत्यादि) का विशद विश्लेषण हठयोग-प्रदीपिका का विषय है। प्रस्तुत पुस्तक महायोग और उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए हठयोगसम्बन्धी भ्रान्तियों को निरस्त करने का प्रयास है। हठयोग के घटक तत्त्वों का पर्यालोचन तथा मूल ग्रन्थ को उपस्थापित करने से पूर्व इस पर विकासात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

मूल्य : रु० ५०.००

हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं हठयोगप्रदीपिका

हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं
हठयोगप्रदीपिका

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण : 1985
मूल्य : रु० 50.00

मुद्रक :
रूबी प्रिंटिंग सर्विस,
मोहन मार्किट, रोहतास नगर,
शाहदरा, दिल्ली-3

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ।।
(ब्रह्माण्ड पुराण)

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।।
(भगवान् शङ्कर)

पुरोवाक्

संस्कृत वाङ्मय विशाल होने के साथ ही साथ इतना विविध है कि इसमें न केवल मानव जीवन अपितु स्थावर जङ्गमात्मक इस विश्व का कोई भी अङ्ग इसके विवेचन से वञ्चित नहीं रहा है। इसके महनीय कलेवर में विकसित विद्याओं एवं कलाओं की संख्या अपरिगणनीय है। जीवन को वहुत सूक्ष्मता से देखने, समझने एवं उसको यथा-सम्भव परिपूर्ण बनाने के लिए प्राचीन भारतीय मनीषियों का योगदान सर्वथा अक्षुण्ण है। विद्याओं एवं कलाओं की विविधता में भी एकसूत्रता पाई जाती है और वह है अध्यात्मप्रवणता जहाँ आकर ही सभी स्रोतों का पर्यवसान होता है। सबका परम लक्ष्य यही है कि हम कौन हैं, हमारा स्वार्थ और परमार्थ क्या है तथा उनकी प्राप्ति हम किस प्रकार कर सकते हैं।

भारतीय वाङ्मय एक वृक्ष के समान है जिसके मूल तो वेद हैं तथा व्याकरण एवं धर्म, अर्थ, कामादि विषयक शास्त्र शाखा प्रशाखाएँ तथा पत्र-पुष्प हैं, पर इसका फल तो दर्शन शास्त्र ही है। इस शास्त्र की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं सांख्य और योग। संख्या चर्चा विचारण की व्युत्पत्ति से सांख्य पद सिद्धान्त पक्ष को निरूपित करता है तो 'युज्यते अनुभवपथ मानीयते अनेन' की व्युत्पत्ति से योग का अभिप्राय ज्ञान का अनुभवात्मक अनुष्ठान ही है। वस्तुतः सांख्य और योग ये दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह दार्शनिक तत्त्वों के दो अनिवार्य पक्ष हैं जिनके बिना दर्शन की दृश्यते अनेन की व्युत्पत्ति समुचित नहीं बनती।

योग को महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा है, जिसे गीता में दुर्निग्रह एवं सुदुष्कर माना है। किन्तु वहीं यह बताया गया है कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा मनोनिग्रह सर्वथा सरल हो जाता है। इसी को योग की परम्परा में हठयोग कहते हैं। जिसमें विविध मुद्राओं एवं आसनों के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके चित्त की वृत्तियों का आनायास निरोध सम्पादित हो जाता है। यहाँ यह बात बताना नितराम आवश्यक है कि हठयोग का भी लक्ष्य अन्य दर्शनों की ही भाँति आत्मसाक्षात्कार ही है जिसकी चरम परिणति मोक्ष में होती है।

अपने अन्तेवासी सुरेन्द्रकुमार शर्मा की कृति हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका को स्थालीपुलाकन्याय से ही अवलोकन कर मुझे प्रसन्नता हुई है कि ग्रन्थकार ने हठयोग की उपर्युक्त चेतना को आत्मसात् कर प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका सम्यक् निर्वाह किया है। हठयोग के इतिहास का विवेचन अपने आप में एक बहुत ही जटिल कार्य है क्योंकि उसके सूत्र विविध एवं परस्पर विरुद्ध परम्पराओं में उलझे पड़े हैं जिन्हें सुलझाकर एकरूपता में लाना ही परमश्लाघ्य कार्य है जिसे यहाँ कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया गया है। साथ ही हठयोगप्रदीपिका को आधार बनाकर कतिपय उत्कृष्ट आसनों, मुद्राओं और प्राणायाम के प्रकारों का सुस्पष्ट एवं प्रामाणिक निरूपण किया गया है।

अन्त में नादानुसन्धान सहित समाधि की अवस्था का निरूपण भी यहाँ सुबोध शैली में हुआ है। इन सबके प्रायोगिक दिग्दर्शन हेतु आयुर्वेद के ग्रन्थों के समुद्धरण कृति की महत्ता को और उत्कृष्ट बना देते हैं। अपनी प्रथम रचना में ही इतनी सफलता के लिए मैं सुरेन्द्र को बधाई देना चाहता हूँ और कामना करना चाहता हूँ कि वे निरन्तर एक के बाद एक ग्रन्थ के प्रणयन में लगे रहें तथा इस क्षेत्र में यशस्वी हों।

डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7

भूमिका

सप्त सिन्धु के निवासी प्राचीन ऋषियों व मुनियों की ज्ञानवर्धक, उर्वर एवं कल्पना विचार प्रधान ऋतम्भरा प्रज्ञा ने जिस ज्ञानार्जन की प्रशस्त परम्परा का परिवर्धन कर एक ऐसे दर्शनाङ्कुर को मानव मानस भूमि पर प्रतिष्ठापित किया, जो कालान्तर में विभिन्न धर्म शाखाओं एवं साम्प्रदायिक पत्रों से युक्त महान् दर्शन वृक्ष के रूप में उपस्थापित हुआ, फलस्वरूप समस्त मानव जन को जिससे आध्यात्मिक फल प्राप्त हुआ।

इस प्रकार की विभिन्न मर्त्य कल्पना अभौतक सत्ता से सम्बद्ध होकर एक नवीन मार्ग की ओर अग्रसर हुई, जिसे अखण्ड सत्ता के नाम से अभिहित करते हैं और इसकी प्राप्ति ही मानव जीवन की उदात्त भावना का चरम एवं अन्तिम लक्ष्य है, क्योंकि क्लेशमय भौतिक सत्ता से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय यही है। दर्शन शब्द के मूल में भी यही सिद्धान्त दृष्टिगत होता है। 'दर्शन' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। क्या ? अखण्ड तत्त्व का वास्तविक तात्त्विक स्वरूप। अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति ही मोक्ष का नामान्तर है। तच्च्युति—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

संसृति का मुख्य हेतु है। अत एव सिसृक्षा से उत्पन्न त्रिगुणात्मिक ("जगदाभास") असत्य अथवा प्रातिभासिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह माया नामक एक सामान्य वस्तु के द्रव्य से बना है, जो बाद में भिन्न प्रकार के सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक कार्य करते हुए अनुमान किया जाता है। माया तत्त्व समग्र कर्मों का कोष है)।[1] माया का यथार्थ ज्ञान दर्शन का ध्येय है। क्योंकि "प्राचीन भारत में पूर्णत्व के अन्वेषण के परिणामस्वरूप द्वैत तथा अनैकान्तिक दृष्टियों के साथ-साथ अद्वैत-दृष्टि का भी विकास हुआ था। दार्शनिक विचार के क्रम विकास की दृष्टि से वैदिक संहिता तथा उपनिषदों का अद्वैतवाद

1. भारतीय दर्शन का इतिहास—भाग पञ्चम, पृ०-30

यदि छोड़ भी दिया जाय, तो भी बहुसंख्यक दार्शनिक समीक्षकों में अद्वैत-चिन्तन का प्रभाव दिखाई देता है। प्राचीन मीमांसा शास्त्रों में जिस प्रकार अद्वैत-तत्त्व का अनुसन्धान मिलता है, वह शाङ्करमत से अत्यन्त प्राचीन है। भर्तृहरि तथा मण्डनमिश्र का ब्रह्मवाद आचार्य शंकर-प्रचारित अद्वैत से भिन्न होने पर भी, अद्वैतवाद ही है। प्राचीनकाल में शब्दाद्वैतवाद का विद्वत्समाज में अत्यधिक प्रचार रहा। जयन्त की न्यायमञ्जरी में, शान्तरक्षित तथा कमलशील के तत्त्वसंग्रह तथा उसकी टीका में, जैनसाहित्य में, सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य की शिवदृष्टि और उसकी टीका आदि ग्रन्थों में, पूर्वपक्ष के रूप में इस मत की चर्चा की गई है। बौद्ध-दार्शनिक समाज में योगाचार-मत अद्वैतवाद है और माध्यमिक मत भी उसी प्रकार का है, उनमें एक है विज्ञानाद्वैतवाद और दूसरा है शून्याद्वैतवाद। प्रसिद्धि है कि कालक्रम से बुद्ध का नाम भी 'अद्वयवादी' पड़ गया था। नैयायिकों के अद्वैतवादी न होने पर भी नैयायिकशिरोमणि उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्व-विवेक में अद्वैतवाद के ऊपर विशेष श्रद्धा प्रकट की है। शैव तथा शाक्त आगमों में भी अद्वैत की महिमा ही घोषित हुई है। इन्हें तान्त्रिक अद्वैतवाद कहा जा सकता है। ईश्वराद्वयवाद प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द-साहित्य के माध्यम से प्रचारित हुआ था।··· अद्वैतवाद विभिन्न प्रकार का होने पर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन सब में किसी-न-किसी अंश में सोपान-परम्परागत एक क्रम विद्यमान है।"[1] इसी प्रकार विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में योग परक वैचित्र्य दृष्टिगत होने पर भी मूलतः एवं विशेष रूप से अन्तर्निहित एक ही तत्त्व का बोध होता है और उसी महायोग के चार प्रमुख अङ्गों (मन्त्र, लय, हठ और राज) का विवेचन योग-शास्त्रों में किया गया है।

महायोग के उपर्युक्त अङ्गों में क्रमशः श्रेष्ठता को प्राप्त कर अन्तिम योग राजयोग ही उत्तमोत्तम है तथा इसके तीन प्रकार—(सांख्य, तारक और अमनस्क) निर्दिष्ट हैं। पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान सांख्य, बहिर्मुद्रा का ज्ञान तारक और अन्तर्मुद्रा के परिज्ञान से अमनस्क योग होता है। इस प्रकार सांख्य से तारक और तारक से अमनस्क योग श्रेष्ठ है।[2] परन्तु तत्त्व की दृष्टि से शिवयोग और राजयोग एक ही हैं और साधकों का

1. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—डा० गोपीनाथ कविराज, पृ०-1-2, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सन्-1978

2. मन्त्रो लयो हठो राजा चेति योगाश्चतुर्विधाः। 1/4
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्याद्योगाश्चत्वार एव हि।
तेष्वेक एव मुख्योऽसौ राजयोगोत्तमोत्तमः॥
सोऽपि त्रिधा भवेत्सांख्यस्तारकश्चामना इति।
पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानं यत्सांख्यमुच्यते॥
बहिर्मुद्रापरिज्ञानाद्योगस्तारक उच्यते।
अन्तर्मुद्रापरिज्ञानादमनस्क इतीरितः॥
श्लाघ्यः सांख्यात्तारकोऽयममनस्कोऽपि तारकात्।
राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः॥ 1/9-12
शिवयोगदीपिका, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः। ग्रन्थाङ्क-139, सन्-1978

साध्य शिवयोग तथा उसका साधन हठयोग कहलाता है। योग (योगाङ्गप्रक्रिया) से ज्ञान और ज्ञान से योग (समाधि) प्रवर्तित होता है तथा बुद्धिमान् पुरुष को इन दोनों की सिद्धि हेतु शरीर की रक्षा करनी चाहिये। महाकवि कालिदास के अनुसार भी—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

अतएव शरीर को कफ रहित एवं सुस्थैर्य हेतु हठयोग का ही अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि शरीरियों का कफ केवल हठयोग द्वारा ही नष्ट होता है।[1]

इस प्रकार की प्राचीन भावाभिव्यक्तियों पर अन्वेषकों का दृष्टिपात क्यों नहीं हुआ यह अपने आप में एक रहस्य ही तो है। विचारकों की दृष्टि से प्राचीन हठयोग वास्तव में अस्पृष्ट है। जबकि हठयोग का प्रचलन तान्त्रिक ग्रन्थों के प्रणयन से कई शताब्दी पूर्व था ऐसा कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं क्योंकि यह सर्वविदित है कि प्रत्येक सिद्ध को सर्वप्रथम हठयोग का अभ्यास करना चाहिए अथवा हठयोग का अभ्यास उसे तब करना चाहिये जबकि वह अन्य साधनों से अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सकता हो, इसलिए सुस्पष्ट है कि तन्त्र वहाँ से प्रारम्भ होते हैं, जहाँ हठयोग समाप्त होता है[2] (प्रकृत् शब्द हठयोग की प्राचीनता के द्योतक हैं)।

वस्तुतः तात्पर्य यह है कि तन्त्र के भव्य भवन के निर्माण में हठयोग ने सबल नींव प्रदान की तथा इसी भवन की प्रशंसा में प्राचीन आचार्यों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन तो किया लेकिन इसके मूल कारण हठयोग के यथार्थ स्वरूप की उपेक्षा के साथ। जिसके फलस्वरूप विभिन्न दर्शनों की विविध विश्लेषणात्मक असङ्गतियों में घृष्ट होता हुआ प्राचीन हठयोग का यथार्थ स्वरूप अपनी मूलस्थिति से अपभ्रष्ट होता रहा। अनेक साम्प्रदायिक आचार्यों ने हठयोग निर्दिष्ट विशिष्ट मुद्राओं के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर मुद्रा, मैथुन इत्यादि जैसे गर्हित अर्थों में उपस्थापित किया। इन परिस्थितियों में जबकि हठयोग दर्शन सूर्य को सघन प्रतिक्रिया मेघ ने आच्छन्न कर लिया था कि तभी आदि शंकराचार्य जैसे अद्वितीय, महिमा एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्वयुक्त गोरक्षनाथ रूप चन्दनानिल का आविर्भाव हुआ जिसके तीव्र वेग ने उस असामयिक दुर्दिन को दिग्लीन

---

1. शरीरं कफनाशेन सुस्थैर्यं याति निश्चितम् ।
   स कफो हठयोगेन विनश्यति शरीरिणाम् ।। शिवयोगप्रदीपिका—2/3

2. It means that every worshipper should practice first Hathayoga or that he should do so only when he fails to achieve his end by other means......It is therefore clear that Tantras begin where Hathayoga ends.—Guhyasamāja Tantra, edited by Benoytosh Bhattacharya, p. xvi-xvii.

कर दिया तथा उसकी सुगन्ध केवल इस मर्त्यभूमि पर ही नहीं प्रत्युत इस विज्ञान प्रधान युग में भी श्री शिव के मस्तकस्थ चन्द्रमण्डल पर विराजित हुई,* क्योंकि उसने सभी धर्मों का समन्वय 36 तत्त्वों में कर, पञ्चभूत निर्मित इस देह में इतने देवी-देवताओं का वास दिखाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इस प्रकार से पिण्डस्थ कर दिया कि कायज्ञान एक ऐसे चरमबिन्दु को प्राप्त कर गया जो स्वयं सिद्धियों से युक्त, अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय था। उनकी रचनाओं पर वेद और उपनिषदों के तात्त्विक विचारों, बौद्ध, सांख्य, योग, तन्त्र, अद्वैत, द्वैताद्वैत तथा कश्मीर शैव सम्प्रदाय के मूल तत्त्वों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में परिलक्षित होता है। दर्शन प्रधान ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में परमशिव का ज्ञान बुद्धि ज्ञान से भिन्न व समस्त मानवजन के बाह्य एवं आन्तरिक अनुभूति का एकमात्र आधार है।

इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार का मुख्यतम श्रेय आगे चलकर श्री स्वात्माराम योगीन्द्र प्रणीत हठयोगप्रदीपिका को जाता है क्योंकि उन्होंने गोरक्षनाथ के मूल सिद्धान्त (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की शरीर में विद्यमानता) को चरितार्थ करने के उद्देश्य से काया योग साधना पद्धति का अवलम्बन कर, उससे प्राप्त मुक्ति का संचार किया। "मुक्ताई से अपने उपदेश में अल्लम प्रभु कहते हैं कि जिस प्रकार एक दूध पीते बालक को माँ के दूध से छुड़ाकर अनेक प्रकार के भोजन दिए जाते हैं, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षक, भक्त को बाह्य प्रकार की पूजा में ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा देता है तथा बाद में उनको छुड़वा देता है, जिससे अन्त में वह सब प्रकार के कर्तव्यों से विरक्त हो जाता है तथा सत्य-ज्ञान प्राप्त करता है जिससे उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। यहाँ अध्ययन तथा व्याख्यान का यथेष्ट उपयोग नहीं परन्तु सबका शिव से तादाम्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है।"[1] अतएव यह सुस्पष्ट है कि हठयोग साधना पद्धति का मुख्यतम उद्देश्य मुक्ति है ऐसा महान् हठयोगी अल्लम प्रभु ने भी स्वीकार किया है तथा इसी तत्त्व की उद्घोषणा करते हुए स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार कहते हैं कि जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल आलाप मात्र है।[2] इस प्रकार परम साध्य के साधनाङ्गों का युक्तिपूर्ण वर्णन हठयोगप्रदीपिका में परिलक्षित होता है।

इस प्रसङ्ग में यह कथन असङ्गत नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोग के सभी अंगों (विशेष रूप से प्राणायाम) का सविस्तर एवं सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, क्योंकि प्राणायाम श्वास की वह साधन क्रिया है जिसके द्वारा साध्यद्वय सिद्ध होते हैं। प्रथम असाध्य रोगों का नाश एवं द्वितीय कुण्डलिनी शक्ति जागरण द्वारा मुक्ति। प्राणायाम सम्बन्धी

---

* चन्द्रमा पर किए गए सफल प्राणायाम प्रयोग।

1. प्रभु लिङ्ग लीला, पृ०-57-58, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-5, एस० एन० दास गुप्ता, पृ०-51
2. हठयोगप्रदीपिका—4/113

विवेचनान्तर्गत यह बताना अत्यावश्यक हो जाता है कि प्राणायाम का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन एवं पाश्चात्य जगत् में भी प्रचलित था।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोगप्रदीपिका के तुलनात्मकाध्ययनाभावाभाव व सिद्धासन और प्राणायाम को अत्यधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से चित्र भी उपस्थापित किये गए हैं। सिद्धासन की महत्ता को हठयोगमार्गानुगामी आचार्यों ने ही नहीं अपितु अद्वैतवाद के प्रचारक श्री आदिशङ्कराचार्य ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि—जिस (आसन) में सुखपूर्वक, अविच्छिन्न ब्रह्मचिन्तन हो, उसे ही आसन जानो तथा अन्य केवल सुखनाशक ही हैं। जो समस्त भूतों का आदिकारण, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान और जिसमें ब्रह्मवेत्ता स्थित रहते हैं उसे सिद्धासन अथवा सिद्धों का आश्रय कहते हैं।[2]

प्रकृत ग्रन्थ सामान्य ज्ञान विवेचन के अतिरिक्त शोध के उद्देश्य से भी लिखा गया है। प्रेरणा स्रोत विषयक प्रसङ्ग में सर्वप्रथम मैं यह बताना चाहूँगा कि सन् 1981-

---

1. The Science of breathing is as old as the world. It is practised not merely for health but for evolving certain occult powers which are latent in all of us. The Chinese, two thousand years before the Christian era, had this science; the Greeks and Romans also practised it. Some of the Roman writers mentioned the practice of holding the breath for medical purposes, because it was believed that thereby they could induce heat in the internal regions of the body and also could strengthen the internal regions. Plato refers to the custom of resorting to breathing in certain ways, and later on, in mediaeval ages, writers have made mention of this science. Kant wrote a work on the power of the mind to control sickness by the mere force of the will, and there is one chapter on this matter alone, that is, treating certain diseases by the holding of the breath. This science therefore must be deeply important not only for the curing of disease but for other more important purposes.—Speeches and writings of Virchand R. Gandhi. The Yoga philosophy—Published by the Trustees Devchand Lalbhai Pustakoddhar Fund, Bombay, 1912.

2. सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत् सुखनाशनम्॥
सिद्धं यत् सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम्।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः॥ अपरोक्षानुभूति—112, 113

82 में **अपर्णा आश्रम मानतलाई** से योगशिक्षा प्राप्त कर, मानव जीवन में योग के महत्त्व का बोध हुआ। परिणामस्वरूप यह निश्चय किया कि भविष्य में योगपरक विशेषानुसन्धानिकाध्ययन एवं आश्रम में दिये गये उपदेशानुसार योग का प्रचार एवं प्रसार का भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए मैं वहाँ के समस्त शिक्षकों का आभारी हूँ। सहायक ग्रन्थों के सम्बन्ध में (प्राणायाम के चित्र हेतु) कल्याण का योगाङ्क तथा कैवल्य धाम की हठप्रदीपिका ने समय-समय पर मेरा दिशा निर्देश किया।

श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का मैं अत्यन्त ऋणी एवं कृतज्ञता का पात्र हूँ जिन्होंने हठयोगप्रदीपिका की अतिप्राचीन टीका उपलब्ध कराई तथा स्वयं अत्यन्त व्यस्त होने पर भी अपने अमूल्य विचारों द्वारा मेरा दिशा निर्देशन किया।

मैं अपने लघु शोध निर्देशक पूज्य गुरु रीडर डा० बलदेवराज शर्मा संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समयाभाव होने पर भी मेरी सहायता की। पुस्तक का शुद्ध व परिमार्जित रूप उन्हीं के अथक प्रयास असीम कृपा व अगाध प्यार का ही फल है।

प्राणायाम के बाहरी चित्र हेतु मित्र सुरेन्द्र सिंह ने जो मेरी मदद की वह अकथनीय है। इस विषय में मैं कुमारी किरण शर्मा का ऋणी हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कार्यरत श्री कल्याण सिंह, श्री हरमन्दिर पाल, श्री रघुबीर सिंह और श्री बनवारी लाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि इनके अथक प्रयासों के कारण ही मुझे सहायक ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकी। प्रकाशक श्री श्यामलाल मलहोत्रा (प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स) का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अल्प समय में ही इस ग्रंथ को प्रकाशित करने की कृपा की है। इस पुस्तक के निर्माण एवं प्रकाशन में मित्रवर श्री हरीश कौशिक, श्री भगवती प्रसाद, श्री रमण कुमार तथा श्री रमाकान्त तिवारी आदि मित्रों का मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि इनके सतत सहयोग व प्रोत्साहन के द्वारा ही यह कार्य पूर्ण हो रहा है।

अन्त में केवल यही कहना चाहूँगा कि—

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्नहि॥

—**सुरेन्द्र कुमार शर्मा**

विषयानुक्रमणी

संकेत-सूची

कठ उ०	—	कठोपनिषद्
घे० सं०	—	घेरण्ड-संहिता
पा० यो० द०	—	पातञ्जल योगदर्शन
भा० पु०	—	भागवत पुराण
म० स्मृ०	—	मनुस्मृति
मै० उ०	—	मैत्रायण्युपनिषद्
यो० कु० उ०	—	योगकुण्डल्युपनिषद्
यो० चू० उ०	—	योगचूडामण्युपनिषद्
यो० तत्त्व० उ०	—	योगतत्त्वोपनिषद्
शा० उ०	—	शाण्डिल्योपनिषद्
शि० सं०	—	शिव-संहिता
शि० स्व०	—	शिवस्वरोदय
ह० प्र०	—	हठप्रदीपिका
ह० यो० प्र०	—	हठयोगप्रदीपिका

अध्याय 1

हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

दर्शन परम्परा के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन प्रारम्भ से ही आस्तिक एवं नास्तिक[1] रूपी दो विचारप्रधान धाराओं में विभक्त रहा है। जहाँ एक ओर नास्तिक शब्द रूपी मणिमुकुट धारण करनेवाले जैन, बौद्ध और चार्वाक प्रभृति दर्शनों ने अपनी तर्कपूर्ण शैली से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हम सब उस ईश्वर की देन नहीं, वहीं दूसरी ओर ईश्वरीयसत्ताविषयक ज्ञानाऽमृतरस की गागर को धारण करने वाले वेदान्त, न्याय वैशेषिक, अर्वाचीन सांख्य और योग प्रभृति आस्तिक दर्शनों ने अपनी बाण सदृश अकाट्य लेखनी की जिह्वा से प्रस्फुटित तर्कों से यह सिद्ध किया है कि हम सब निरीह प्राणी ईश्वर की देन तथा उसी के वशीभूत केवल कठपुतली मात्र ही हैं। इसी कारण से अनुप्रेरित इन आस्तिक दर्शनों का भारतीय दर्शन साहित्य में ही नहीं अपितु समस्त विश्व दर्शन साहित्य में अनूठा एवं विशिष्ट योगदान रहा है, जिनमें योगदर्शन का अपना अलग एवं उच्चतम स्थान है, क्योंकि योगदर्शन में निर्दिष्ट ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा ही प्राचीन भारतीय मनीषियों को वैदिक मन्त्रों का बोध हुआ था।[2]

योग दर्शन में प्रतिपाद्य 'योग' का वर्णन आस्तिक, नास्तिक एवं अन्य संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में बहुलता से प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ वैदिक विचारधारा में इसका अर्थ संयोग हेतु हुआ है, गणित शास्त्र में इसका अर्थ मिलाना दृष्टिगोचर होता है। वैयाकरण दृष्टिकोण के अनुसार योग शब्द 'युज्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

---

1. आस्तिक शब्द भारतीय दर्शन परम्परा में वेदों की प्रामाणिकता मानने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है और जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते वे नास्तिक कहलाते हैं, क्योंकि वेद ईश्वरवादी ग्रन्थ हैं, इसलिए कालान्तर में आस्तिक शब्द ईश्वर में विश्वास करने वालों के लिए तथा जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते उनके लिए नास्तिक शब्द का प्रयोग होने लगा।
2. (क) सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।

ऋग्वेद-10/129/4

'युजिर् योगे' धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ संयुक्त होना अथवा मिलाना है। पातञ्जल योगदर्शन में 'युज् समाधौ' धातु से निष्पन्न योगपद का उल्लेख किया गया है, किन्तु भाष्यकार भगवान् व्यास के मन्तव्यानुसार योग एवं समाधि पर्यायवाची हैं।[1]

योग शब्द की व्युत्पत्ति—इस प्रकार शुद्ध तर्क की कसौटी पर परखने से यह प्रतीत होता है कि 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[2] फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है उसमें प्रकार भेद होने पर भी कुछ अंश में मूलतः सामञ्जस्य प्राप्त होता है उसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग,

---

(ख) ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्—1/3

1. (क) व्यास भाष्य, पृ॰. 1
(ख) योगः समाधि, पृ॰. 3

2. "योगः—1 सम्बन्धः। 2 (क) समुदायशब्दस्य अवयवशक्तिः (त॰दी॰) (नील॰ 4 पृ॰31) (सि॰ च॰ 4.31)। यथा पाचकादिपदेषु योगः अत्र च पाचकादिपदात् पचति इति व्युत्पत्त्या पाककर्ता बुद्ध्यते इति बोध्यम्। अत्र योगबलं समाख्या इति मीमांसका वदन्ति (वाच॰)। (ख) वैयाकरणास्तु शास्त्रकल्पितावयवार्थमात्रबोध-प्रयोजको योगः (शक्तिः)। यथा पाचकादौ इत्याहुः (ल॰म॰ आकांक्षादिवि॰ पृ॰ 12) 3 (क) चित्तवृत्तिनिरोधः इति योगिन आहुः (पा॰ पा॰ 1 सू॰ 2) (ख) क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः (सर्व॰सं॰पृ॰ 132 पात॰) अत्रेदं बोध्यम्। विषयेष्वलंप्रत्ययवत उदासीनस्य बहिरिन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं मनो यदा आत्ममात्रनिष्ठं भवति तदा तत्कर्मानुगुणप्रयत्नाभावात्कर्म मनसि नोत्पद्यते स्थिरतरं मनो भवति स एव योगः (वै॰ उ॰ 5/2/16)। अथवा आत्मस्थे मनसि षडङ्गयोगेन इन्द्रियादिकं परित्यज्य मनो यदा आत्ममात्रे तिष्ठति तदा मनःकर्मणोनुत्पादः तदा मनो निश्चलं भवति। तदवस्थायां शरीरावच्छेदेन दुःखं न जायते। स आत्मना बाह्यव्यावृत्त-मनसः संयोगो योग उच्यते। षडङ्गानि स्कन्दपुराणे उक्तानि यथा-आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ (वै॰ सू॰ 5/2-16) (वै॰ वि॰) इति। यद्वा इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याहृत्येन्द्रियेभ्यो मनः प्रत्याहृत्य साक्षात्कर्तव्ये वस्तुनि मनः प्रणिधानं योगः (नील॰) इति। स च योगो द्विविधः।
राजयोगः हठयोगश्च। तत्र राजयोगः पतञ्जलिनोक्तः। हठयोगस्तु तन्त्रशास्त्रोक्तः प्रकारान्तरेणापि। योगो द्विविधः सम्प्रज्ञातः असम्प्रज्ञातश्चेति। तथा योगस्त्रिविधः

चन्द्र और सूर्य का मिलन रज और बिन्दु का मिलन, शिव शक्ति का सामञ्जस्य, चित्त-वृत्ति का निरोध अथवा पूर्वोक्त पाद-टिप्पणी में निर्दिष्ट किसी अन्य प्रकार से भी उसका लक्षण किया जाये परन्तु मूलमें विशेष भेद नहीं है।[1] स्कन्दपुराण के अनुसार जहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों का जो समान रूपत्व है, वही सर्वसंकल्परहित समाधि कहा

ज्ञान-योगः कर्मयोगः भक्तियोगश्च (भाग० स्क० 11 अ० 20 श्लो० 6) इति। इदं च बोध्यम् 'षष्ठभगवदवतारो दत्तात्रेयः' स च आन्वीक्षिकीमलकार्य प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् (भाग० 1 / 3 / 12)। तेन च स्वसंहितायां योगोनुशिष्टः इति 4 उपायः (5) युक्तिः (6) जीवात्मपरमात्मनोः सम्बन्धः इति केचिद्वेदान्तिन आहुः तदुक्तम् योगं संयोगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः इति (वाच०)। (7) देवतानुसंधानं योगः इति रामानुजीयाः नारद-पञ्चरात्रविदः आहुः (सर्व० पृ० 117 रामा०)। (8) अप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। यथा योगाचारः इत्यादौ इति बौद्धा आहुः। (9) शब्दादीनां प्रयोगः इति वैयाकरणा आहुः (10) भेषजम् इति भिषज आहुः। (11) योगः कर्मसु कौशलम्, इति कर्मकर्तारोङ्गीचक्रुः (12) छलम् (उपाधि) इति व्यवहारशास्त्रज्ञा आहुः। अत्र स्मृतिः योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यस्य वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ।। (याज्ञ० अ०2 श्लो० 181टी० मिता० पृ०94) इति। योगः कपटम् इति मनुः (8/165) (13) रविचन्द्रयोगाधीना विष्कम्भादयः सप्तविंशति पदार्थाः इति ज्योतिषज्ञा आहुः। (14) तिथिवारनक्षत्राणां सम्बन्धविशेषः। यथा सिद्धियोगः अमृतसिद्धियोगः अर्धोदययोगः दग्धयोगः इत्यादिः इति मौहूर्तिका आहुः (15) लग्नादिगृहविशेषे स्थितो ग्रहविशेषः। यथा राजयोगः नाभसंयोगः इत्यादिः इति कार्तान्तिका आहुः। (16) यात्रायाम् आलग्नात्केन्द्रत्रिकोणस्थितो बुधजीवशुक्राद्यन्यतमः इति ज्योतिःशास्त्रज्ञा आहुः। तदुक्तम् एको ज्ञ ज्यसितेषु पञ्चमतपः केन्द्रेषु योगस्तथा द्वौ चेत्तेष्वधियोग एषु सकला योगाधियोगः स्मृतः योगे क्षेममथाधियोगगमने क्षेमं रिपूणां वधः (मु० चि०) इति। (17) कामुककामिनीसंमेलनं योगः इत्यालंकारिका वदन्ति। (18) चित्तद्वारेणात्मेश्वरसंबन्धो योगः (सर्व० सं० पृ० 169 नकुली०) (न्याय कोश-पृ० 670 से उद्धृत)

1. योऽपानप्राणयोश्चैव रजसो रेतसस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं हि द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते ।। योगशिखोपनिषद्—1/68

जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की अविभागरूप एकता ही परमयोग है।[1] याज्ञ-वल्क्य-संहिता में जीवात्मा और परमात्मा का संयोग योग कहा गया है।[2] गीता के अनु-सार समत्व ही योग है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध ही योग कहा गया है।[4] कठोपनिषद् के अनुसार इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का नाम योग है।[5] मैत्रायण्युपनिषद् के अनुसार प्राण, मन और इन्द्रियों का एकत्व तथा सर्वभाव का परित्याग ही योग कहलाता है।[6]

अग्निपुराण[7], आदित्यपुराण[8], कूर्मपुराण[9] और लिङ्गपुराण[10] आदि में चित्तवृत्ति के निरोध से ही योग की सम्भावना की अभिव्यक्ति की गई है। उपाध्याय यशोविजय ने द्वात्रिंशिका में कहा है कि सर्वकर्म मल का नाश तथा मोक्ष के साथ संयोग ही योग है[11] आचार्य हेमचन्द्र ने चारों पुरुषार्थों में मोक्ष को प्रमुख पुरुषार्थ मानकर योग को उसका कारण माना है।[12] महाभारत के शान्तिपर्व में योग द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति बताई गई है।[13]

---

1. यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
   स नष्ट-सर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
   जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागः परन्तप।
   स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥—स्कन्द पुराण अध्याय-29
2. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः—याज्ञवल्क्यस्मृति—2/44
3. समत्वं योग उच्यते।—गीता-2/48
4. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—पा० योग दर्शन-1/2
5. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्—कठोपनिषद्—2/3/11
6. एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
   सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते॥ मैत्रायण्युपनिषद्—6/25
7. चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः।—अग्निपुराण-372
8. योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता।—आदित्य पुराण
9. मय्येकचित्तता योगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः।—कूर्म पुराण -11
10. योगो निरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमाः—लिङ्ग पुराण-8
11. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते—द्वात्रिंशिका-10/1
12. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
    ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः॥ योगशास्त्र (1/15)।
13. शान्तिपर्व-232/32

महायोग—इन सब परिभाषाओं को देखने पर यह प्रतीत होता है कि स्वाभाविक योग एक ही है अनेक नहीं। यह महायोग के नाम से श्रेष्ठ साधकों में प्रसिद्ध है तथा अवस्था भेद के कारण ही यह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग रूपी अंगों से प्रकट होता है जैसा कि योगतत्त्वोपनिषद् एवं शिवसंहिता में कहा गया है।[1] इसी कारण से उसे महायोग कहा जाता है।[2]

लिङ्ग पुराण में योग के मन्त्र, स्पर्श, भाव, अभाव एवं महायोग रूपी पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं[3] जबकि बोधसार ग्रन्थ में लिखा है कि लय, मन्त्र, हठ, राज, सांख्य और भक्ति योग इन (षट्) सब योगों के अन्दर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी हैं, उन सब बुधों ने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।[4] भारतीय संस्कृत साहित्य में योग (अष्टांग, लय, मन्त्र, हठ, राज, कर्म, सांख्य, ध्यान, भक्ति, तारक, विचार, शब्द, जप, पाशुपत, शैव, अहोरात्र, माहेश्वर, पातञ्जल, भृगु शिव और कापालिकयोग) इत्यादि नामों से जाना जाता रहा है[5] किन्तु मुख्य रूप से इसके केवल चार भेद (मन्त्र, हठ, लय और राजयोग) ही स्वीकार किए गए हैं क्योंकि 'योगाचार्य महर्षियों ने कहा है कि अध्यात्म, आधिदैव और आधिभूत इन भावत्रयों के अनुसार मन, वायु व वीर्य ये तीनों ही एक हैं, इसीलिए मन को वशीभूत करने से वीर्य ओर वायु अपने आप वशीभूत हो जाते हैं। वायु को वशीभूत करने से मन व वीर्य अपने आप ही अधीन हो जाते हैं। और

1. (क) योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ।। योगतत्त्वोपनिषद्-19
(ख) मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः ।। शिवसंहिता-5/14
2. मन्त्रो लयो हठो राजयोगोथभूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।। योगशिखोपनिषद्-1/129
3. लिङ्ग पुराण-75
4. लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः ।। बोधसार
5. "राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, जपयोग, लययोग, मन्त्रयोग शब्दयोग, प्रणवयोग, हंसयोग, तन्त्रयोग, स्वरयोग, ध्यानयोग, भृगुयोग, शिवयोग, पाशुपतयोग, प्रेमयोग, अनासक्तयोग, समाधियोग, ब्रह्मयोग, नामकीर्तनयोग, स्पर्शयोग, बुद्धियोग, अस्पर्शयोग, पुरुषोत्तमयोग, प्रकृति-पुरुषयोग, भावयोग, अभावयोग, क्रियायोग, विज्ञानयोग, गृहस्थयोग, पतिव्रतयोग, सांख्ययोग, कुण्ड-लिनीयोग, सुषुप्तियोग, स्वप्नयोग, चित्तयोग, इच्छायोग, मानसयोग, अहङ्कार योग, ज्ञानेन्द्रिययोग, कर्मेन्द्रिययोग, पूर्णयोग, कबीरपंथीयोग, स्वामी नारायण योग, बौद्धयोग, जैनयोग, पारसी मत-योग, ईसाई मत योग" इत्यादि
योगदर्शन सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, पृष्ठ-17 से उद्धृत।

सुकौशल पूर्ण क्रियाओं के द्वारा वीर्य को वशीभूत करके उर्द्ध्वरेता हो जाने से मन व प्राणवायु अनायास उस योगी के वश में आ जाते हैं। राजयोग में बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं से अधिक सम्बन्ध रखा गया है। और मन्त्र, हठ व लय इन तीन प्रकार की योगप्रणालियों में मन, वायु तथा वीर्य इन तीनों का सम्बन्ध अधिक रूप से है। इनमें से लययोग में मन की क्रिया का आधिक्य और मन्त्र व हठयोग में वायु धारण तथा रेतोधारण सम्बन्धी क्रियाओं की अधिकता देखी जाती है। शास्त्रों में मन्त्रयोगी के लिए वे सब तो चाहिए, उपरान्त प्राणायामसिद्धि व वायुनिरोध के लिए विशेष व्यवस्था रखी गई है।[1]

हठ—'हठ' में प्रयुक्त हकार और ठकार से अभिप्राय क्रमशः सूर्य नाड़ी और चन्द्र-नाड़ी प्रोक्त है। इस प्रकार सूर्य चन्द्र की एक रूपता ही हठ कहलाती है और इसके द्वारा सर्वदोष उत्पन्न जड़ता नष्ट होती है[1] तथा क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता होती है।[2] अतः सूर्य और चन्द्र नाड़ी के परस्पर संयोग को ही 'हठयोग' कहते हैं।[3] यहाँ सूर्य और चन्द्र से अभिप्राय क्रमशः पिङ्गला और इडा नाड़ी है तथा जिनका वास शरीर के दक्षिण एवं वाम भाग में माना गया है।[4] हठयोग के अन्य ग्रन्थों में हकार और ठकार निम्नलिखित पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी जाना जाता है—

ह—सूर्य, रवि, यमुना, शक्ति, रज, प्राण, पवन, अधः और
पिङ्गला नाड़ी।

ठ—चन्द्र, शशि, गंगा, शिव, बिन्दु, अपान, मन, ऊर्ध्व और इडा नाड़ी।

हठ = परस्पर मिलाना जिससे हठात् सिद्धि मिल जाये। गुह्य—समाज में ज्ञान

---

1. श्री धम्मकल्पद्रुम खण्ड 4, पृ०-1131
2. हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥
   हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोष समुद्भवम्
   क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्—योगशिखोपनिषद् 1/133,34
3. हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्हठयोगो निगद्यते॥ हठयोगप्रदीपिका
   —ज्योत्स्ना टीका—1/1
4. (क) मेरोर्वामे स्थिता नाड़ी इड़ा चन्द्रामृता शिवे।
   दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः॥
   (ख) इड़ा वामे स्थिता नाड़ी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी॥
   शक्तिरूपा तु सा नाड़ी साक्षादमृतविग्रहा।
   दक्षिणे या पिङ्गलाख्या पुंरूपा सूर्यविग्रहा॥ षट्चक्रविवृतिः पृष्ठ-78

प्राप्ति हेतु हठयोग को एक साधन के रूप में स्वीकार किया है।[1] और यह सिद्धों के द्वारा सेवित है।[2]

इस हठयोग की व्याख्या हम इस प्रकार से भी कर सकते हैं कि प्राणायाम आदि क्रिया के अभ्यास से उत्पन्न राजयोग के बिना ही परमात्मा का साक्षात्कार रूप चित्त की वृत्ति का निरोध करना ही हठयोग कहलाता है और वह तन्त्र प्रसिद्ध है।[3] जबकि 'अमर' इत्यादि कोषों में हठ शब्द बलात्कार हेतु प्रयुक्त हुआ है।[4] हठ एवं हठयोग शब्दार्थ हेतु शब्दकल्पद्रुम में इनकी व्याख्या अत्यधिक विस्तार एवं भली-प्रकार से निर्दिष्ट है, जिसमें हठयोग की दो प्रकार की विधियों पर प्रकाश डाला गया है।[5]

---

1. दर्शने तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते।
   यदा न सिध्यते वोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥ गुह्यसमाज तन्त्र 18/162

2. एवं ध्यात्वा चिरायुस्स्याद् अङ्गजननवर्जितः।
   शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसङ्गतः॥
   हठज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
   अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥
   योगकर्णिका-12/25-26

2. **हठयोग**—प्राणायामादिक्रियाभ्यासजन्यः राजयोगं विनैव परमात्मसाक्षात्कार-रूपश्चित्तवृत्तिनिरोधः। स च तन्त्रप्रसिद्धः तत्प्रकारस्तु हठदीपिकादावुक्तो द्रष्टव्यः। अत्र विग्रहः हठेन बलात्कारेण योगः चित्तवृत्तिनिरोधः इति।
   न्यायकोश पृ०-1064

3. (क) प्रसभं तु बलात्कारो हठः। अमरकोश पृष्ठ-393
   (ख) हठः स्यात् प्रसभे पृश्न्यां हेठो बाधापि हेठयोः।
   अपष्ठुः पुंसि काले च वामे स्यादन्यलिङ्गकः॥ मेदिनी—पृ०-39

4. हठ, कीलबन्धे। बलात्कृतौ। प्लुतौ। इति कवि-कल्पद्रुमः॥ (भा०-पर०-भक-प्लुतौ अक०-सेट्।) कीले बन्धः कीलबन्धः। हठति छागं कीले बध्नाति इत्यर्थः। कातन्त्रादौ बलात्कारमात्रे। हठति परचक्रं बली। इति दुर्गादासः॥ हठः पुं०(हठ+पुंसीति घः।) बलात्कारः। इत्यमरः। प्रश्नी। इति मेदिनी॥
   हठयोगः। यथा, हठयोगप्रदीपिकायाम्। १/१०।
   "अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः। अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः" ॥)
   हठपर्णी, स्त्री, (हठति प्लवते। इति हठ+अच्। तादृशं पर्णमस्याः। ङीष्।) शैवालः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

5. हठयोगः पुं, (हठेन योगः) योगविशेषः। यथा—
   "इदानीं हठयोगस्तु कथ्यते हठसिद्धिदः। कृत्वासनं पवनाशं शरीरे रोगहारकम्॥
   पूरकं कुम्भकञ्चैव रेचकं वायुना भजेत्। इत्थं क्रमोत्क्रमं ज्ञात्वा पवनं साधयेत् सदा॥

'हकार' और 'ठकार' रूपी द्वन्दों को परस्पर मिलाना ही हठ योग कहलाता है क्योकि "हठयोगी लोगों का विचार है कि वैषम्य ही जगत् की उत्पत्ति और दृश्यमानता का मूल कारण है, जिससे जगत् प्रकट होता है। वह जब तक समावस्था में विद्यमान रहता है, तब तक जगत् नहीं रहता। वह अद्वैत या प्रलय की अवस्था है। साम्यभंग होने पर ही वैषम्य, द्वन्द्व अथवा द्वैत भाव का उदय होता है, यही सृष्टि का बीज है। जो दो विरुद्ध शक्तियाँ एक दूसरे का उपमर्दन कर स्थिति-रूप से निष्क्रिय भाव में विद्यमान रहती हैं, वे जब समत्व का त्याग करती हैं, अर्थात् जब उनमें गुण-प्रधान भाव जग उठता है, तब सृष्टि और संहार के व्यापार सूचित होते हैं।

बहिःशक्ति की प्रधानता से सृष्टि और अन्तःशक्ति की प्रधानता से संहार होता है। स्थिति दोनों शक्तियों की समानता का निदर्शन है। इन दोनों शक्तियों के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न पारिभाषिक नाम रखे गए हैं। शिव-शक्ति तथा पुरुष प्रकृति मूलतः इस आदिद्वन्द्व के ही वाचक हैं। जीव-देह में प्राण और अपान के रूप में इस विरुद्ध अथवा परस्पर-सम्बद्ध शक्तियुगल का ही विकास हमें दिखाई पड़ता है।[1]

इस "हठयोग की साधना से सिद्ध देह की प्राप्ति होती है। इससे प्राप्त शरीर वज्र-लौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त एवं दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर के साथ जीवन और मृत्यु का भी स्वामी होता है। उसमें युवावस्था का तेज होता है। उसे इच्छामृत्यु सिद्ध होती है। संहार-मुद्रा धारण करके वह जीवन-त्याग करता है।"[2]

हठ एवं राजयोग में सम्बन्ध—इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि इन सब भेदों में राजयोग (समाधि) ही श्रेष्ठ है[3] और इस राजयोग की प्राप्ति का एकमात्र

धौत्यादिकर्म्मषट्कञ्च संस्कुर्याद्हठसाधकः। एतन्नाड्यान्तु देवेशि !
वायुपूर्णं प्रतिष्ठितम् ॥
ततो मनो निश्चलं स्यात्तत आनन्द एव हि। हठयोगान्न कालः स्यान्मनः शून्ये
भवेद्यदि ॥

इदानीं हठयोगस्य द्वितीयं भेदवत् शृणु।
आकाशे नासिकाग्रे तु सूर्यकोटिसमं स्मरेत् ॥
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णमित्यादिरूपतः।
एवं ध्यात्वा चिरायुः स्यादङ्गाजननवर्जितः ॥
शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसादतः।
हठाज्ज्योतिर्म्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत् ॥
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः ॥" इति। योगस्वरोदय ॥
शब्दकल्पद्रुम भाग पञ्चम पृ०-50।

1. भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 255
2. संत काव्य में योग का स्वरूप, पृष्ठ 201
3. "राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।"

उपाय केवल हठयोग ही है तथा ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग अपने आप में अपूर्ण है।[1] पातञ्जल योगदर्शन के आठ अंगों में से पूर्व के चार अंगों को हठयोग एवं बाद के चार अंगों को राजयोग की श्रेणी में रखकर दोनों को अन्योन्याश्रित कह सकते हैं क्योंकि जिस प्रकार राजयोग अपने आप में साधन ही नहीं अपितु साध्य भी है। उसी प्रकार हठयोग भी अपने आप में पूर्ण लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायता से जिसका साधन किया जाता है उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये अन्तःकरण के चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरण रूपी कारण दृश्य से जगत् रूपी कार्यदृश्य का कार्यकारण सम्बन्ध है। दृश्य से द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है। चित्त वृत्ति का चाञ्चल्य ही इसका कारण है। **वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूप का प्रकाश करना ही राजयोग कहलाता है।** राजयोग में विचारबुद्धि का प्राधान्य रहता है। विचार शक्ति की पूर्णता द्वारा राजयोग का साधन होता है। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान कहते हैं। इसकी समाधि ही निर्विकल्पक समाधि कहलाती है। राजयोग से सिद्धिप्राप्त महात्मा का नाम जीवन्मुक्त है। महाभावप्राप्त योगी महाबोधप्राप्त योगी वा महालय प्राप्त योगी तत्त्व ज्ञान की सहायता से राजयोगभूमि में अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योग साधनों में श्रेष्ठ है और साधन की चरम सीमा है, इसी कारण इसको राजयोग कहते हैं।[2] जबकि

---

1. हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
   न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/76
2. सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
   तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
   अन्तः करणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
   चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
   तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
   विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
   दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
   चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
   वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
   विचार बुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥
   ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।
   तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते॥
   उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
   महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्वतः॥
   योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते।
   योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते॥ श्री धर्मकल्पद्रुम भाग-4 से उद्धृत

यह देखा जाता है कि 'सूक्ष्म शरीर के तीव्र संस्कार से उत्पन्न हुए कर्म्मों के भोग के आश्रय रूपी जीव का स्थूल शरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर के भाव के अनुरूप ही स्थूल शरीर का संगठन होता है और सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं तब इसमें क्या सन्देह है कि स्थूल शरीर के कार्यों के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता है ? फलत: अधिकारी विशेष के लिए स्थूल शरीर प्रधान योग क्रियाओं का आविष्कार योग शास्त्र में किया गया है । जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्था में स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन करता हुआ स्थूल शरीर पर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमश: उस शक्ति को अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है और इसी योग प्रणाली को हठयोग कहते हैं।"[1] "प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा व परमात्मा के मेल से उत्पन्न होने के कारण स्थूल शरीर का नाम घट है। जलमध्य स्थिति आम कुम्भ की तरह शरीर रूपी यह घट सदा ही जीर्ण रहा करता है। इसलिए योगरूपी अनल के द्वारा दग्ध करके इस घट की शुद्धि करनी चाहिए। जीर्ण भावयुक्त स्थूल शरीर को हठयोग के द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीर को भी योगानुकूल किया जाता है। स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीर का ही परिणाम मात्र है। इसलिए जिस प्रकार ककारादि वर्णों के अभ्यास द्वारा क्रमश: शास्त्र ज्ञान लाभ होता है उसी प्रकार जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओं के द्वारा प्रथमत: स्थूल शरीर को वश में लाकर क्रमश: सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य स्थापन पूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध किया जा सकता है उन साधनों की हठसंज्ञा होती है।[2] श्री गोरक्षनाथ विरचित 'अमरौघप्रबोध' के अनुसार प्रभञ्जन विधान में रत ही हठयोग कहलाता है।[3] संक्षेप में इतना कहना मात्र ही पर्याप्त होगा कि आत्मसाक्षात्कार हेतु राजयोग से निम्न द्वितीय श्रेणी की क्रिया का नाम ही हठयोग है एवं इसका उपदेश

---

1. श्री धर्मकल्पद्रुम—भाग-4—पृष्ठ 1129-30
2. प्राणाऽपाननादबिन्दुजीवात्मपरमात्मनाम् ।
मेलनाद्घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ।।
आमकुम्भमिवाऽम्भ:स्थं जीर्यमाणं सदा घटम् ।
योगानलेन सन्दह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ।।
हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणामिमां तनुम् ।
द्रढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद् योगयुजं पुनः ।।
स्थूल: सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यत: ।
कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम् ।।
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनै: ।
योगेन मनसो योगो हठयोग: प्रकीर्त्तित: ।। श्री धर्म्मकल्पद्रुम से उद्धृत—4/पृ०-1127-28
3. यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो हठस्स:—अमरौघप्रबोध-4

केवल राजयोग हेतु हुआ है ।[1] किन्तु इस तथ्य के अतिरिक्त इस हेतु को भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि राजयोग रूपी परम लक्ष्य के साथ-साथ इसका अव्यवहित उद्देश्य देह शुद्धि है और जिसको योगियों की पारिभाषिक भाषा में घट शुद्धि भी कहते हैं।

हठयोग एवं पातञ्जल योग में अन्तर—महायोग (लय, मन्त्र, हठ और राज) के सभी अंगों में महर्षि पातञ्जल की ही प्रणाली प्रचलित है किन्तु प्रत्येक में योग के किसी विशिष्ट स्वरूप का ही निदर्शन है। वास्तव में योग की केवल दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं, एक वह जो योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित है और जिसका भाष्य व्यास ने किया तथा दूसरी प्रणाली वह है जो गोरक्षनाथ रचित गोरक्षशतक तथा स्वात्मारामयोगी की हठयोगप्रदीपिका में वर्णित है। संक्षेप में दोनों योग प्रणालियों में यह अन्तर है कि जहाँ पातञ्जल योग चित्तानुशासन पर ही सारा प्रयास लगाते हैं वहाँ हठयोग का प्रमुख सम्बन्ध है शरीर उसके स्वास्थ्य शुद्धता एवं रोगरहितता से। इस तथ्य का उद्घाटन इसी से हो जाता है कि जहाँ पातञ्जल ने आसन की परिभाषा किसी ऐसी शरीरावस्थिति से की है जो स्थिरसुख हो (स्थिरसुखमासनम्) वहाँ हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत से आसनों का उल्लेख करते हैं, यथा—मयूरासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, इत्यादि जिनसे शरीरस्थ रोगों का निवारण होता है। जहां पातञ्जल योग दर्शन विचारप्रधान दर्शन ग्रन्थ है वहीं हठयोग के ग्रन्थ प्रक्रिया प्रधान होने के साथ-साथ उन पर ज्ञान का भी प्रभाव है। इसके अतिरिक्त हठयोग में कुछ क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें हठयोग की पारिभाषिक भाषा में षट्कर्म कहते हैं यथा नेति, धौति, बस्ति, त्राटक इत्यादि जिनके विषय में पातञ्जल मौन हैं।[2] इसके अतिरिक्त हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा एवं बन्धों का सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर है तथा मुद्राओं की संख्या पाँच से पच्चीस तक भी मानी गई है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन में इन मुद्राओं एवं बन्धों की चर्चा तक नहीं मिलती। हठयोग तथा पातञ्जलयोग में एक यह अन्तर भी है कि जहाँ हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम एवं नादानुसन्धान की विधि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर इनके

---

1. (क) श्रीमद्गोरक्षनाथेन सदामरौधवर्तिना।
   लयमन्त्रहठाः प्रोक्ता राजयोगाय केवलम्॥ वहीं-73
   (ख) केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठयोगप्रदीपिका-1/2
   (ग) मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
   पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥ योगशास्त्र
2. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-5 पृ0-276
3. (क) पाँच मुद्राएँ—गोरक्षसंहिता-1/56
   (ख) दस मुद्राएँ—हठयोगप्रदीपिका-3/6-7
   (ग) पच्चीस मुद्राएँ—घेरण्ड संहिता-3/1-3

महत्त्व को स्वीकार किया है वही पातञ्जल योग में केवल प्राणायाम का अल्पमात्र ही वर्णन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य भेद यह भी कहा जा सकता है कि हठयोग के ग्रन्थों में आसन, प्राणायाम और (विशेषकर) मुद्राओं का प्रमुख उद्देश्य है कुण्डलिनी अर्थात् व्यक्ति की वह मार्मिक शक्ति जो सुषुम्ना के मूल में सर्प के समान कुण्डली लगाये रहती है को जगाना और उसे कतिपय (षट्) चक्रों से पार कराकर ब्रह्म-द्वार तक ले जाकर स्थिर करना,[1] जबकि योगदर्शन में चक्रों एवं नाड़ियों का वर्णन यदा-कदा ही दृष्टिगोचर होता है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग दर्शन में जहाँ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग के आठ अंगों के रूप में स्वीकार किया है[2] वहीं पर हठयोग के ग्रन्थ योगांगों की दृष्टि से एकमत नहीं हैं। दतात्रेय-संहिता,[3] मण्डलब्राह्मणोपनिषद्,[4] जाबालदर्शनोपनिषद्[5] वराहोपनिषद्,[6] सिद्धसिद्धान्त संग्रह[7] ने जहाँ योग के आठ अंग स्वीकार किए हैं वहीं पर योगतत्त्वोपनिषद् ने इन्हीं आठ अंगों को हठ-योग के अंग कहा है— "पूर्वोक्त लययोग के बाद अब हठयोग सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रूमध्य हरि का ध्यान और समाधि को अष्टांग योग कहते हैं।"[8] सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपनिषदों के रचनाकारों ने पातञ्जल योग प्रणाली का ही अनुगमन किया है, क्योंकि अन्य हठयोग के ग्रन्थों में हठयोग के छः[9] एवं

---

1. हठयोगप्रदीपिका-3/1-4
2. पातञ्जलयोगदर्शन-2/29
3. दत्तात्रेय-संहिता—श्लोकार्धसंख्या-52-56
4. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्-1/1
5. जाबालदर्शनोपनिषद्-4-5
6. वराहोपनिषद्-5/11-12
7. सिद्धसिद्धान्त संग्रह-2/49-50
8. स एव लययोगः स्याद्हठयोगमतः शृणु।
   यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः ॥
   प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्ये हरिम्।
   समाधिसमताऽवस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥
   योगतत्त्वोपनिषद्—24-25
9. (क) अमृतनादोपनिषद्-6
   (ख) क्षुरिकोपनिषद्—सम्पूर्ण
   (ग) योगचूडामण्युपनिषद्-2
   (घ) ध्यानबिन्दूपनिषद्-41
   (ङ) गोरक्ष-संहिता-1/6
   (च) योगमार्त्तण्ड-2

सात[1] अंगों की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है। हठयोग के सात (षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान व समाधि) ही मानना उपयुक्त प्रतीत होता है[2] क्योंकि बिना षट्कर्म किए शरीर का शोधन एवं आसन के लिए सुखपूर्वक बैठना दुष्कर प्रतीत होता है। अत हठयोग के कुछ शास्त्रों में यम-नियम की परिकल्पना का परित्याग कर षट् कर्मों की महत्ता को स्वीकार कर उनका सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर होता है क्योंकि हठयोगियों का लक्ष्य (कलियुग में असम्भव मानी जाने वाली) शारीरिक शक्तियों का विकास कर अद्वैतसिद्धि प्राप्त करना था। जैसा कि भगवान् शंकराचार्य अपने अद्वैत-वेदान्तीय-प्रकरण ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में राजयोग तथा हठयोग विषयक भेद प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पूर्णतया सभी प्रकार से क्षीण कलमष साधकों को ज्ञान मार्ग से मोक्ष प्राप्ति राजयोग के अन्तर्गत आती है। परन्तु जिन साधकों अथवा मुमुक्षुओं के पाप-कषाय आदि अवशिष्ट हैं, उन्हें हठयोग के अनुपालन से ही मोक्ष मार्ग में सफलता मिल सकती है। अद्वैत-वेदान्तीय-राजयोग के सन्दर्भ में व्यापक व्याख्या देते हुए आदि शंकराचार्य कहते हैं कि बुद्धिमन्दता विषयासक्ति रूपी रस्सी से जकड़े होने के कारण ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन में असमर्थ मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे चिरकाल तक निर्गुण ब्रह्म की उपासना पद्धति का अभ्यास करते रहें।[3]

(१) यम (2) नियम (3) त्याग (4) मौन (5) देश (6) काल (7) आसन (8) मूलबन्ध (9) देहसाम्य (10) दृक् स्थिति (11) प्राणसंयम (12) प्रत्याहार (13) धारणा (14) आत्मध्यान और (15) समाधि रूपी (निदि-ध्यासन हेतु) राजयोग के पन्द्रह अंगों[4] का (पतञ्जलि ने जो अष्टांग योग का वर्णन

---

1. शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य्यं धैर्य्यं च लाघवम्।
   प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तञ्च घटस्य सप्तसाधनम्॥
   षट्कर्मणां शोधनञ्च आसनेन भवेद् दृढम्।
   मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
   प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
   समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः॥ घेरण्ड-संहिता 1/9-11
2. षट्कर्मासनमुद्रा प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
   ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥ योगशास्त्र
3. नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
   तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्॥ अपरोक्षानुभूति-101
4. यमो हि नियमत्यागो मौनं देशश्च कालता।
   आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
   प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
   आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥ वही, 102-103

किया है उससे विलक्षण है क्योंकि पतंजलि अमान्य है अवैदिक होने से) सविस्तर वर्णन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इन अंगों से युक्त योग का नाम ही राजयोग है। जिनके कषाय स्वल्प क्षीण हुए हों उन्हें यह हठयोग के सहित और जिनका चित्त परिपक्व हो उन्हें यह राजयोग अकेला ही मोक्षसिद्धि देने वाला है। यह गुरु और इष्ट-देवता के भक्तों को, सभी को सुगमता से शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है।[1]

हठयोग की प्राचीनता—इस प्रक्रिया प्रधान योग की प्राचीनता के विषय में अगर ऐतिहासिक दृष्टिकोण निकाल दिया जाए तो जब से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है तब से ही मनुष्य एवं समस्त जीव-जन्तु किसी-न-किसी रूप में आसन का प्रयोग अवश्य करते रहे हैं क्योंकि जिसमें सुखपूर्वक बैठा जाए वही आसन कहलाता है। यहाँ तक कि गर्भावस्था में भी मनुष्य किसी-न-किसी आसन में अवश्य ठहरता है। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि संसार में जितने भी जीव-जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है।[2]

यह प्रक्रिया प्रधान "योग भारतीय परम्परा की एक विशेष देन है। इसका इतिहास भारत के प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में उपलब्ध मुद्राओं एवं पद्मासन की स्थिति में उत्कीर्ण किसी देव विशेष का चित्र"[3] इस बात का परिचायक है कि यह प्रक्रिया प्रधान परम्परा प्रागैतिहासिक काल में भी विद्यमान एवं भारतीय ऋषियों की अक्षय सम्पत्ति थी।

इस योग की प्राचीनता के विषय की चर्चा करते हुए एस०एन० दास गुप्ता के शब्दों को देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस प्रकार लिखा है कि "योग-क्रियाओं में अलग-अलग सम्प्रदायों ने अलग-अलग परिवर्तनों का समावेश किया, लेकिन इन सम्प्रदायों का सांख्य दर्शन की ओर कोई विशेष झुकाव न था। इस प्रकार योग-क्रियाएँ शैव तथा शाक्त सिद्धान्तों के अनुसार भी विकसित हुईं•••वे एक दूसरी दिशा में विकसित हुईं जिसे हठयोग कहते हैं। जिनके बारे में यह कल्पना की गई कि वह लगातार किए जाने वाले स्नायविक व्यायामों के द्वारा—जिनका सम्बन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के द्वारा•••जिनका सम्ब्रन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के साथ भी

---

1. एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
   किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः॥
   परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः।
   गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जवात्॥ वही—143-144
2. आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः घेरण्ड-संहिता, 2/1
3. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन सुरिन्द्रकौर—लघु शोध प्रबन्ध पृ०2

जोड़ा गया—रहस्यात्मक तथा जादुई करामातों को जन्म देता है।···तन्त्र तथा दूसरी उपासना पद्धति के विकास पर भी इन क्रियाओं का प्रभाव अधिक था।···सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कदाचित् पतञ्जलि थे, क्योंकि उन्होंने न केवल अनेक प्रकार की योग-क्रियाओं का संग्रह किया तथा उन विभिन्न मन्तव्यों को बटोरा जिनका सम्बन्ध योग से था या जोड़ा जा सकता था, बल्कि इन सबको सांख्य दर्शन पर कलम भी कर दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह रूप प्राप्त हुआ जिनमें वे हमें आज उपलब्ध हैं। वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु इस बात से सहमत हैं कि पतञ्जलि योग के प्रवर्तक नहीं थे बल्कि एक संग्रहकर्ता थे"[1] अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रक्रिया प्रधान(हठ)योग के प्रवर्तक कौन थे ? सामान्यत: योगशास्त्रों में हठयोग के प्रवर्तक के रूप में मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पराशर, भृगु व विश्वामित्र आदि पूज्यपाद महर्षियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है तथा इन्हीं महर्षियों की अगाध अनुकम्पा से संसार में प्रत्येक युग में हठयोग का विकास होता गया है।[2] दत्तात्रेयसंहिता के अनुसार कपिल आदि मुनि और इनके शिष्यों ने हठयोग किया था। जिसके अन्तर्गत महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी मुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी और वज्रोलि के तीन प्रकार वज्रोलि, अमरोलि और सहजोलि आते हैं।[3]

---

1. (क) भारतीय दर्शन का इतिहास···एस०एन० दास गुप्ता, पृ० 237 (भाग 1)
   (ख) भारतीय दर्शन सरल परिचय···देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय-181

2. मार्कण्डेयो भरद्वाजो मरीचिरथ जैमिनि: ।
   पराशरो भृगुश्चापि विश्वामित्रादयस्तथा ॥
   एषां पूज्याङ्घ्रिपद्मानामृषीणां कृपयाऽनिशम् ।
   हठयोगविकाशो वै जगत्यत्र विजृम्भते ॥ योगशास्त्र

3. कपिलाद्यास्तु शिष्याश्च हठं कुर्युस्ततो यथा ।
   तद्यथा च महामुद्रा महाबन्धस्तथैव च ।
   तत: स्यात्खेचरी मुद्रा बन्धो जालन्धरस्तथा ।
   उड्डियाणं मूलबन्धो विपरीतकरणी तथा ।
   वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मता । दत्तात्रेय संहिता श्लोकार्ध संख्या 57-61

हठयोग प्रदीपिकाकार ने वसिष्ठ आदि ऋषियों[1] एवं मत्स्येन्द्रनाथ आदि योगियों के साथ-साथ बत्तीस (32) ऐसे महासिद्धों का नामोल्लेख किया है, जिन्होंने हठयोग विद्या के प्रभाव से मृत्यु रूपी काल दण्ड को काटकर मृत्युञ्जयी की पदवी प्राप्त की है।[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—"एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्त्ती जिसका उल्लेख मृकण्डपुत्र या मार्कण्डेय आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट।[3] किन्तु यह एक गहन अन्वेषण का विषय है कि हठयोग की कौनसी प्रणाली गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती थी क्योंकि स्वयं गोरक्षनाथ लिखते हैं कि 'वायु' और 'विन्दु' भेद से 'हठ' दो प्रकार का है।[4] ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार इस हठयोग (चक्र एवं नाड़ी वर्णन युक्त होने के कारण यहाँ हठयोग करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है) का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से हुआ है। इस पुराण के अनुसार एक बार देवादिदेव ब्रह्मा इड़ा आदि छः नाड़ियों को निरुद्ध कर मूलाधार आदि छः चक्रों का लंघन करके प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापितोपरान्त योगस्थ हो गये।[5] परन्तु हठपरम्परा के अनुसार इसके प्रवर्तक भगवान् शिव हैं। गोरक्षसंहिता में

1. वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः। हठयोगप्रदीपिका-1/20
2. श्री आदिनाथमत्स्येन्द्रशावरानन्दभैरवाः।
   चौरङ्गीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥
   मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः।
   कोरण्डकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥
   कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः।
   कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥
   अल्लामः प्रभुदेवस्य घोडाचोली च टिण्टिणिः।
   भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥
   इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः।
   खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ हठयोग प्र०-1/5-9
3. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
   अन्ये मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥ नाथ सम्प्रदाय-पृ०-1/138
4. हठोऽपि द्विविधः क्वापि वायुबिन्दुनिषेवणात्—अमरौघ प्रबोध-5
5. सुखं योगासनं कृत्वा बभूव संपुटाञ्जलिः,
   इड़ां सुषुम्नां मेध्यां च पिङ्गलां नलिनीं धुराम्।
   नाड़ीषट्कं च योगेन निरुध्य च प्रयत्नतः,
   मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
   विशुद्धं परमाज्ञाख्यं षट्चक्रं सन्निरुध्य च।
   लंघनं कारयित्वा च तं षट्चक्रं क्रमाद् विधिः।
   ब्रह्मरन्ध्रं समानीय वायुबद्धं चकार ह। ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्ण खण्ड अध्याय 20

कहा गया है कि यह शास्त्र साक्षात् स्वयं श्री आदिनाथ शिव के मुखारविन्द से ही निकला है।[1] हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार उन सर्वशक्तिमान् श्री आदिनाथ को नमस्कार है जिन्होंने हठयोग विद्या का उपदेश किया।[2] पादुकापञ्चक और सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति में भी सम्बन्धित प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण भगवान् शिव को माना है।[3]

इस हठयोग की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव के द्वारा हुई। इस प्रकार के उपर्युक्त सन्दर्भों को यह कह कर भले ही टाल दिया जाए कि पौराणिक अथवा नाथ परम्परा से सम्बन्धित प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक विद्या एवं इन ग्रन्थों में वर्णित प्रत्येक सन्दर्भों आदि की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव से मानने की एक अव्यवस्थ परम्परा रही है किन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग के प्रमुख अंग के रूप में प्रतिष्ठित आसनों का उल्लेख सिन्धु घाटी की सभ्यता में विद्यमान था तथा उन आसनों को मुद्राओं पर अंकित करने की भी एक सुदृढ़ परम्परा थी। 1922 में हुए अन्वेषणों से यह सिद्ध किया गया है कि मोहनजोदड़ो के समय इस परम्परा का विकास अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था। इस तथ्य के सन्दर्भ में श्री नीलकण्ठ शास्त्री के शब्द द्रष्टव्य हैं।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि "सचमुच ये क्रियाएँ बहुत प्राचीन थीं। सिन्धु सभ्यता के ठोस ध्वंसावशेष उदाहरण के लिए पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरों पर अंकित चित्र अकाट्य रूप से इस बात का सूचन करते हैं कि ये क्रियाएँ इस देश में 3000 ई० पूर्व तक भी प्रचलित थीं। कालक्रम से ये क्रियाएँ बहेतु सामग्री जैसी हो गई जिन्हें तरह-तरह के धार्मिक सम्प्रदायों ने ही नहीं अपितु दार्शनिक सम्प्रदायों तक ने भी अपना लिया था।[5]

---

1. योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
   यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्।। गोरक्ष-संहिता, 2/100
2. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या—ह०प्र०, 1/1
3. (क) पादुकापञ्चकस्तोत्रं पञ्चवक्त्राद्विनिर्गतम्।
   षडाम्नायफलप्राप्तं प्रपञ्चे चातिदुर्लभम्।। पादुकापञ्चक-7
   (ख) शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा। सिद्धसिद्धान्तपद्धति 25/22
4. The deer throne of the God and his yogic posture are the most unequivocal features left, and these prove nothing more than the antiquity of yoga, a system of physical discipline and mental magic. It should be observed that the yogic posture of our God is not unique in Mohen Jodaro finds.
   (The cultural Heritage of India—Vol, IV pp. 66-67
5. भारतीय दर्शन सरल परिचय—श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय पृ०-180

श्री वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार ईसवी सन् से 3000 वर्ष पूर्व तथा उससे भी प्राचीन भारत वर्ष में प्रचलित योग साधना को पाशुपत योग साधना का ही प्रारम्भिक रूप मानते हैं।[1] ईसवी सन् से अति प्राचीन सिन्धु सभ्यता के ध्वंसावशेषों, **वेदों और उपनिषदों के[2] अतिरिक्त** यदि सूक्ष्म दृष्टि से प्राचीन वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थों का पर्यालोचन किया जाय तो उनमें भी हठयोग विषयक सामग्री की उपलब्धि हो सकती है। यह एक अलग चिन्तनीय विषय है कि केचित् अर्वाचीन हठयोगपरम्परानुगामी आचार्यों ने आयुर्वेद ग्रन्थों को अनुपयोगी एवं व्यर्थ बताया है।[3] औषध शास्त्रों की वमन क्रिया तथा अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के षट्कर्मों की प्रमुख गजकरणी क्रिया[4] एवं वमन धौति[5] रूपी उपाङ्ग क्रिया में प्रकार भेद होने पर भी मौलिक सामञ्जस्य है क्योंकि दोनों की क्रिया पद्धतियों का एक मात्र लक्ष्य है, शरीर को कफ, पित्त इत्यादि रोगों से दूर करके शरीर को स्वच्छ एवं निरोग बनाना। चरक-संहिता के अध्याय बीस में वर्णित है कि "कफ में वैद्य सम्पूर्ण उपक्रमों में से वमन को प्रधानतम मानते हैं क्योंकि वह आदि से ही आमाशय में अनुप्रविष्ट होकर विकार-सम्बन्धी कफ की जड़ को अशेषत: ऊपर खींच लाता है। वहाँ पर कफ के जीते जाने पर शरीर के अन्तर्गत कफ के विकार शान्त हो जाते हैं जैसे खेत की क्यारी के बन्ध के टूट जाने पर जल से सींचे न जाने के कारण शालि जौ तथा षष्टिक आदि धान्य सूख जाते हैं। पूर्व में कहा गया है कि छाती विशेषत: श्लेष्मा का स्थान है, और यहाँ आमाशय को मुख्य माना है। आमाशय भी यद्यपि कफ स्थानों में गिना गया है परन्तु वह मुख्य नहीं। सुश्रुत में आमाशय को मुख्य माना गया है।

---

1. कल्याण का योगाङ्क—पृ०-237
2. वेदों तथा उपनिषदों में उपलब्ध हठयोग विषयक ज्ञान की समीक्षा आगे की गई है।
3. चरकानुचरणचतुराश्चटुलधिय: सुश्रुतश्रवणलोला:।
   अमनस्कौषधि···वा···ज्या कथमखिलंगतं तत्क्षयो भवति।।
   बिन्दुनादौ महोषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु।
   तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिता:।। अमरौघप्रबोध 12-13,
4. उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले।
   क्रमपरिचयकेश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञै:।। हठयोगप्रदीपिका 2/38
5. भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठपूरितं सुधी:।
   ऊर्ध्वदृष्टिक्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुन:।
   नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत्।। घेरण्ड-संहिता-1/39

टीकाकार आमाशय से आमाशय का ऊर्ध्वभाग लेते हैं। योगीन्द्रनाथ ने इस सन्दर्भ की टीका करते हुए यहाँ पर भी 'तत्र आमाशयस्य ऊर्ध्वभागे उरोलक्षणे' ऐसा कहा है। अर्थात् वह वहाँ उरस् (छाती) का ही ग्रहण करते हैं। परन्तु यदि आमाशय ही ग्रहण किया जाए तो भी कोई हानि नहीं। आमाशय क्लेदक श्लेष्मा का स्थान है। वमन से क्लेदक श्लेष्मा बाहर निकल जाती है।"[1] वैद्यक शास्त्र के एक अन्य प्रमुख ग्रन्थ योग-तरंगिणी में वमन क्रिया को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'यवागू को कण्ठपर्यन्त पीकर अथवा दूध, छाछ, दही इनको कण्ठपर्यन्त पीकर तथा उस प्राणी को अप्रिय भोजन तथा कफकारी भोजन कराय दोषों को उत्क्लेशित कर और जिसको स्नेहन स्वेदन कर चुके हैं ऐसे मनुष्य को वमन करावे तो वमन उत्तम होता है।[2] इसी भाव को काश्यप-संहिता में इस प्रकार कहा गया है कि पूर्व की ओर मुख कराकर उत्तम आसन में रोगी को बिठाकर वैद्य उस कषाय को जो न अत्यन्त गाढ़ा हो, न अत्यन्त उष्ण तथा न ही अत्यन्त शीत हो···आलोडन कर पूर्वोक्त ग्रहघ्नी आदि के कल्क के साथ कण्ठपर्यन्त पिलावे।···पार्श्वों को सिकोड़ कर थोड़ा आगे को झुक कर वमन हेतु बैठना चाहिए।[3]

जहाँ घेरण्ड-संहिता एवं हठयोगप्रदीपिका सदृश हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वमन हेतु जल किस प्रकार का होना चाहिए इसको स्पष्ट नहीं किया गया है, वहीं आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रसंगवश इसकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि 'कफ रोगों में पीपल, मैनफल और सेंधा नमक इनके चूर्ण को गरम जल में, पित्त रोगों में परवल अड़ूसा और नीम इनको शीतल जल में तथा अजीर्ण रोगों में गरम जल में सेंधा नमक

---

1. ···वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति, तत्रावर्जिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—
भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्दमानान्यम्भसा
प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ।। चरक-संहिता—अध्याय 20/18

2. पीत्वा यवागूमाकण्ठं क्षीरतक्रदधीनि च ।
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः ।।
स्निग्धस्विन्नायवमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्तते ।। योगतरङ्गिणी—6/10-11

3. उपविष्टमासने प्राङ्मुखो भिषगालोड्य तं कषायं ग्रहघ्न्यादिकल्कैर्नातिघनोष्ण-शीतमाकण्ठात् पाययेत्,···उपसंगृहीतपार्श्वः स्यादीषन्न्युब्जः।"
काश्यपसंहिता वा वृद्धजीवकीय तन्त्र, अध्याय-3

डालकर वमन करना चाहिए।[1] और इन सब वमनों में सेंधा नमक सहित देना हितकर माना गया है।[2]

उपर्युक्त वमन हेतु आयुर्वेद ग्रन्थों में जहाँ कण्ठ को ऐरण्ड[3] की कोमल नाल से या "जिनके नख भली प्रकार कटे हुए हैं ऐसी दो अंगुलियों (मध्यमा + तर्जनी) से अथवा नीलोत्पल, कुमुद, सौगन्धिक, इनमें से किसी एक के नाल से स्पर्श करते हुए सुखपूर्वक वमन करने का विधान है[4] वहीं घेरण्ड-संहिता में रम्भादण्ड, हरिद्रादण्ड और वेत्रदण्ड का विधान किया गया है।[5]

इसी प्रकार आयुर्वेद की नस्तक्रिया,[6] अनुवासन बस्ति[7] और उत्तरबस्ति[8] क्रिया को हठयोग की क्रमश: नेति क्रिया, बस्ति क्रिया और वज्रोलि मुद्रा के समकक्ष ही समझना चाहिये क्योंकि इन क्रियाओं की विधियों एवं उनसे प्राप्त लाभों में कोई विशेष भेद नहीं है, यदि आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित क्रियाओं में औषधी विषयक ज्ञान का उल्लंघन कर लिया जाये। इसके अतिरिक्त हठयोगप्रदीपिका में स्पष्ट कहा गया है कि चर्बी प्रधान और श्लेष्म प्रधान व्यक्तियों को ही षट्कर्म (गजकरणी वमनधौति इत्यादि) करने चाहिए। और इन दोषों से रहित व्यक्ति को इन क्रियाओं की आवश्यकता नहीं है तथा षट्कर्मों से कफ इत्यादि दोषों की निवृत्ति अवश्यमेव होती है।[9] इसी भाव की

---

1. कृष्णाराठफलं सिधुंकफे कोष्णजलैः पिबेत् ।
   पटोलवासानिम्बैश्चपित्ते शीतं जलं पिबेत् ॥
   सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत् ।
   अजीर्णे कोष्णपानीयं सिधुं पीत्वा वमेत्सुधीः ॥

   योगतरंगिणी-6/19-20

2. वमनेषु च सर्वेषु सैंधवं मधुना हितम् । वही 6।12
3. कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक् । वही 6।21
4. नखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन् ।

   चरक संहिता-15/13

5. रम्भादण्डं हरिद्रादण्डं वेत्रदण्डं तथैव च । घेरण्ड-संहिता-1/37
6. काश्यपसंहिता—अध्याय 4
7. योगतरङ्गिणी—8/8-12
8. वही—8/24-30
9. (क) मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
   अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ हठयोगप्रदीपिका 2/21
   (ख) षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः । वही 2/36

अभिव्यक्ति औषधशास्त्रों में भी की गई है।[1] इन क्रियाओं के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में किसी ऐसे आसन का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिनका सम्बन्ध जानूओं से था।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के रूप में प्रतिष्ठित षट् कर्मों को ईसवी शताब्दी से पूर्व तथा उसके कुछ समय बाद के आयुर्वेद ग्रन्थों में आये हुये पञ्चकर्मों[3] में स्थान मिल चुका था। इसी भाव को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईसवी शताब्दी से पूर्व षट्कर्मों[4] (हठयोग के प्रथम अंग) का तथा आसनों का प्रयोग सामान्य जन किया करते थे क्योंकि आयुर्वेद के ग्रन्थों का भी यही लक्ष्य था कि ऐसी क्रियाओं एवं औषधियों का प्रयोग करना जिससे सामान्य जन को शारीरिक लाभ एवं मानसिक सुख की प्राप्ति हो सके। सम्भवतः इसी लक्ष्य से प्रभावित होकर गोरक्षनाथ से कई शताब्दी पूर्ववर्त्ती काकचण्डीश्वर-कल्पतन्त्र' में भी जल नेति क्रिया का महत्त्व समझ कर उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रातः काल उठ कर दो पसर जल नासिका छिद्र से जो मनुष्य पान करता है वह

---

1. (क) कफाधिकाश्च ये रोगाः·························॥

काश्यप-संहिता अध्याय-7

(ख) य एते कफजा रोगा एते सन्तर्पणोद्भवाः।
ते चापतर्पणीयाः स्युर्लङ्घनीयास्त एव च॥ वही अ०-7

(ग) बलवंतं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम्।
तथावमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत्॥ योगतरङ्गिणी 6/2

(घ) अतिबालोऽतिवृद्धो गुल्फप्लीहोर्ध्वरक्तलोम······। काश्यपसंहिता-अ०-7

(ङ) सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं न वामयेत्॥ योगतरङ्गिणी-6/10

2. (क) वामनं पाययित्वा तु जानुमात्रासने स्थितम्। वही-6/21

(ख) जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः···। सुश्रुत चिकित्सा-अ० 33

(ग) उपविष्टमासने···········उपसंगृहीतपार्श्वः—
स्यादीषन्न्युब्जः। काश्यपसंहिता-अध्याय-3, पृ०-155

3. वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः॥ योगतरङ्गिणी-9/36

4. धौतिबस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥ ह० प्र०-2/22

बुद्धिमान, नेत्रों में गरुड़ के सदृश, वली और पलित से रहित सभी रोगों से मुक्त होता है ।[1] हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार इस क्रिया के द्वारा श्लेष्म विकार नष्ट होता है ।[2]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से ई० शताब्दी के पूर्ववर्त्ती आयुर्वेद के अतिरिक्त ग्रन्थों को देखा जाये तो उन ग्रन्थों में भी आसन से पूर्व कुछ ऐसी क्रियाओं की ओर संकेत किया गया है जिसे परवर्त्ती साहित्य में स्पष्ट शब्दों में षट्कर्म कहते हैं । पातञ्जल योग दर्शनानुसार जिसमें स्थिरता एवं सुख की प्राप्ति हो उसे आसन कहते हैं और साधक का शरीर प्रयत्न की शिथिलता (देह कम्पादि न होना) और अनन्त समापत्तियों (अनन्त विध आसनों को विचार कर उसमें से श्रेष्ठ एवं लाभकारी आसन को स्वीकार करना) के द्वारा ही आसन स्थिर और सुखकर होता है ।[3] भोजवृत्ति टीका के अनुसार वह आसन जब स्थिर अर्थात् निष्कम्प सुखरूप और जो व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है तब वह योगाङ्गता को प्राप्त होता है ।[4] जैन आगमों में आसन सम्बन्धी विचार करते हुये स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि इन आसनों के अभ्यास के प्रारम्भिक काल में किञ्चित् कष्ट का अनुभव होने के कारण ये 'कायक्लेश' है ।[5] आयुर्वेद ग्रन्थों में स्पष्ट

---

1. प्रसृतियुगलमात्रं प्रातरुत्थाय नित्यं पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि ।
   स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ।।
   काकचण्डीश्वर कल्पतन्त्रम् उदककल्प 3

2. नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
   पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ।। घेरण्ड-संहिता-1/58

3. (क) स्थिरसुखमासनम् । पा० यो० दर्शन 2/46

   (ख) प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । वही 2/47

   (ग) "अनन्तसमापत्तिभ्याम्' से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पातञ्जल योग दर्शन के काल से पूर्व ही बहुत आसनों का प्रचलन था जिनका नामोल्लेख करना सम्भवत: पातञ्जल को स्वीकार्य इसलिए नहीं था, क्योंकि अनन्तविध आसनों के नामोल्लेख एवं उनकी प्रक्रिया बताने से उनका दर्शन प्रधान ग्रन्थ केवल प्रक्रिया प्राधान मात्र होकर रह जाता ।

4. तद्यदास्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां भजते ।। भोजवृत्ति टीका 2/46

5. उ० सू०—30/27

उक्त है कि शरीर का कम्पायमान एवं शिथिल होना वात, पित्त एवं कफ विकार के लक्षण है।[1]

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस मनुष्य का शरीर वात-पित्त-कफ त्रिविध दोषों से दूषित रहता है क्या वह आसन में सुखपूर्वक नहीं बैठ सकता ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि (पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्)[2] अर्थात् पहले षट्कर्म करने चाहिएँ इसके अतिरिक्त घेरण्ड-संहिता में भी आसनों से पूर्व षट्कर्म का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार यह निर्द्वन्द्व सिद्ध होता है कि जब तक शरीर रूपी घट को दावाग्नि रूपी षट्कर्म में दग्ध नहीं किया जायेगा, तब तक यह शरीर रूपी घट स्थिर सुख आसन रूपी जल हेतु व्यर्थ ही है क्योंकि आसनों से पूर्व अगर षट्कर्म कर लिए जाए तो शरीर किञ्चित् अभ्यास मात्र से ही आसनानुकूल बन जाता है और जिससे साधक को शीघ्र ही आसन सुखदायी होने लगता है।

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि षट्कर्म की क्रियाओं का चाहे वह आयुर्वेद से सम्बन्धित ही क्यों न हो ईसवी शताब्दी से बहुत पहले प्रचलन था।

हठयोग विषयक ज्ञान एवं उसकी प्राचीनता बिषयक सन्दर्भ की चर्चा करते हुए डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य लिखते हैं कि "बौद्ध धर्म ने योग के सिद्धान्तों को चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठे रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर (राज) योग एवं हठयोग दोनों प्रकार के योगों की साधना किया करता था और उन लोगों ने अपने सामूहिक उन साधनाओं को शास्त्र का रूप देकर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो पातञ्जलयोग पद्धति से बहुत कुछ मिलती है, बल्कि यों कहना चाहिए कि दोनों में बहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोग की मूलभित्ति पर तन्त्रों का निर्माण हुआ और तन्त्रों की सहायता से यह शास्त्र सर्वाङ्ग-पूर्ण बन गया।[4] सेनार्ट का तो यह विचार है कि योग ही बौद्धमत का मूल कारण है

---

1. (क) विषादविजृम्भाविनामवेपथु·········वातज्वरानिलाङ्गानि स्युः ॥
(चरक-संहिता, निदानस्थान-1/15-21)
(ख) वेपथुर्विषमो वेगः·························च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥
योगतरङ्गिणी-21/16-17
2. हठ० प्र० 2/21,
3. घे० स० 1/10,
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 281,

और पुसें बौद्धमत को योग की ही एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं।[1]

हठयोग सम्बन्धी साधनाओं एवं उसकी निर्धारित क्रियाओं का स्पष्ट दिग्दर्शन ईसवी सन् की तृतीय शताब्दी के गुह्य समाज तन्त्र में उपलब्ध होता है। इस तन्त्र ग्रन्थ में षडाङ्ग योग का वर्णन किया गया है।[2]

11वीं शताब्दी से पूर्व हठयोग के प्रचार का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि "नरपतिजयचर्यास्वरोदय"' शास्त्र में स्वरोदय ज्ञान का सविस्तार वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इस स्वरोदय शास्त्र का ज्ञान राजा के लिये ही नहीं अपितु देवताओं के लिये भी आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थ में स्पष्ट निर्देश है कि जिस राजा के पास स्वर शास्त्र का पारंगत एक भी दैवज्ञ नहीं होता और कदाचित् वह विजय प्राप्त कर भी ले तो उसकी वह विजय घुणों से बनाये हुए अक्षरों के और अंधे से गृहीत पक्षी चटक के समान होती है। उसका राज्य केले के खम्भे के समान निस्सार होता है। स्वरशास्त्र का अभ्यास करने वाला, सत्यवादी और जितेन्द्रिय दैवज्ञ की आज्ञा पालन करने वाले राजा को निरन्तर विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है।[3]

सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्राचीन प्रक्रिया प्रधान योग की परम्परा रूपी ज्ञान गंगा का प्रवाह अनादि काल से ही अनवरत बहता आया था जिससे केवल बौद्ध ही नहीं अपितु जैन दर्शन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका था। इतिहास स्वयं साक्षी है कि भगवान् महावीर स्वयं यौगिक तथा ध्यान-क्रियाओं में लीन रहे थे और उन्हें उत्कटिकासन में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।[4] इसके अतिरिक्त वह स्वयं प्रक्रिया प्रधान योगी थे तथा उन्होंने इस प्रक्रिया प्रधान योग का प्रचार और प्रसार भी किया

---

1. संतकाव्य में योग का स्वरूप, पृ० 124,
2. सेवाषडङ्गयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्।
   साधयेदन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा॥
   प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्रणायामोऽथ धारणा।
   अनुस्मृति: समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ गुह्यसमाजतन्त्र 18/139-40
3. कथञ्चिद्विजयी युद्धे स्वरज्ञेन बिना नृप:।
   घुणवर्णोपमं तत्तु यथान्धचटकग्रह:॥
   यस्यैकोऽपि गृहे नास्ति स्वरशास्त्रस्य पारग:।
   रम्भास्तम्भोपमं राज्यं निश्चितं तस्य भूपते:॥
   स्वरशास्त्रे सदाभ्यासी सत्यवादी जितेन्द्रिय:।
   तस्यादेशस्य य: कर्त्ता जयश्रीस्तं नृपं भजेत्॥

   नरपतिजयचर्यास्वरोदय-1/10-12
4. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला—पृ०-142

था ।[1] औपपातिकसूत्र में जहाँ वीर, कमल, दण्ड, वज्र इत्यादि आसनों का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं आगम शास्त्रों में प्राणायाम विषयक सन्दर्भ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है ।[2]

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व हठयोग के महत्त्वपूर्ण अंग षट् कर्म, आसन और प्राणायाम अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुके थे और अति प्राचीन एवं जन सामान्य प्रिय इन क्रियाओं को विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और दर्शन ग्रन्थों में भी निबद्ध कर दिया गया था, क्योंकि यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी भी शास्त्र का प्रणयन अपने समय में पराकाष्ठा को प्राप्त उपलब्ध मान्यताओं को लेकर ही हुआ करता है । यह एक अलग चिन्तन का विषय है कि महर्षि पातंजल इन क्रियाओं से कितना कुछ ग्रहण कर सके तथा उन्होंने किस प्रकार से इस प्रक्रिया प्रधान योग को दर्शन प्रधान ग्रन्थ के रूप में परिष्कृत एवं परिमार्जित किया जो आज हमें वर्तमान रूप में उपलब्ध होता है ।

यद्यपि हठयोग के सिद्धान्त, ग्रन्थ रूप में पर्याप्त परवर्त्ती हैं, किन्तु जैसाकि हम अपने अध्ययन में स्पष्ट कर चुके हैं कि इसके चिह्न हमें निर्विवाद रूप से सिन्धुघाटी के प्रागैतिहासिक अवशेषों में उपलब्ध होते हैं और वहीं से सम्भवतः वेदों तथा उपनिषदों में यत्र-तत्र अवतरित होकर वेदोत्तर काल में पल्लवित होते हैं ।

---

1. "Mahavira and Gautama were conteporaneous and both of them were undoubtedly great practical yogins and not only their respective traditions, but even their opponents recognise them to be so. As already noted by this time, yoga was not only well-established as a practical discipline and as a system of thought, but it had also become very much popular and already influenced not only religious but also other fields of Indian life. Mahavira and especially Gautama tried to make it even more popular." (Yoga-Historical background Dr. Kenghe pp. 123-24)

2. (क) औपपातिक सूत्र, बाह्यतपोधिकार-30

   (ख) उत्तराध्ययन सूत्र—29/73

क्योंकि 'इसी हठयोग के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध व शान्तिलाभ होता है,[1] इत्यादि प्रमाणों के द्वारा श्रुति ने हठयोग का समर्थन किया है एवं स्मृतियों और परवर्ती कालीन धर्मग्रन्थों ने इसका अनुसरण।

हठयोग परम्परा के मुख्य विषय के रूप में प्रचलित प्राणायाम का प्रयोग वैदिक परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी अवलोकनीय है। शाब्दिक रूप में प्राणायाम का अर्थ 'प्राण का नियन्त्रण अथवा विराम' माना गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। एक जगह प्रयुक्त हुआ है कि "प्राणा-द्वायुरजायत' अर्थात् आदि पुरुष के प्राण से वायु प्रकट हुई।[2] सम्भवतः ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'अपान' की ओर भी निर्देश है।[3] तैत्तिरीय संहिता में प्राणों के पाँच प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है।[4] जिस पर टिप्पणी करते हुए सायणाचार्य ने उन प्राणों का स्थान निर्धारित करते हुए कहा है कि हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और व्यान की सम्पूर्ण शरीर में विद्यमानता है।[5]

अथर्ववेद में 'प्राणा' एवं 'अपाना' का बहुवचन में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[6] और एक जगह "अष्टायोग" तथा 'षड्योग' का प्रयोग किया गया है।[7] इसके अतिरिक्त एक जगह शरीर में आठ चक्रों की विद्यमानता बताते हुए कहा गया है कि आठ चक्रों वाला तथा नवदरवाजों (छिद्र) वाला यह शरीर ही देवों की अयोध्यापुरी है। उसी इस शरीर पुरी के शिरोभाग में सुनहले वर्ण का एक कोश (ब्रह्मगुहा) अत्यन्त सुखमय है। वह

---

1. "हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः" (श्री धर्मकल्पद्रुम, भाग चार पृ० 1127 से उद्धृत)

2. ऋग्वेद, 10/90/13

3. 'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती' (10/189/2)

4. प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे पाहि उदानव्यानौ मे पाहि। (1/6।3।3)

5. हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः। सायणाचार्य

6. प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्। अथर्ववेद-8/1/1

7. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषु।
तेना ते तन्वो ३ रपोऽपाचीनमप व्यये।। वहीं-6/91/1

ज्योति से समाच्छादित है ।[1] यजुर्वेद और सामवेद संहिता में भी 'प्राण' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है ।[2] गौतम धर्म सूत्र (1।61) तथा बौधायन धर्मसूत्र में भी प्राणायाम का निर्देश प्राप्त है । उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही प्राणायाम का इतना विकास हो चुका था कि धार्मिक कृत्यों अथवा प्रायश्चित्तों के रूप में भी इस क्रिया का उपयोग किया जाता था ।[3]

उपनिषदों में तो इस योग की चर्चा प्रसंगवश अनेक स्थलों पर हुई है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगी के लिए कौन-सा स्थान योगाभ्यास हेतु उत्तम है—इसी चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'योगी को समतल, शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित शब्द, जल और आश्रय की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल नेत्रों को पीड़ा न देने वाले, गुहा आदि वायुशून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए ।[4] इसके अतिरिक्त इस क्रियात्मक योग की चर्चा करते हुए एक जगह षडङ्ग योग की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है । सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ हठयोग सम्बन्धी (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) अंगों का वर्णन अत्यन्त विशिष्ट रूप से दर्शाया गया है ।[5] हठयोग का स्पष्ट संकेत देते हुए अन्यत्र कहा गया है कि 'शरीर का हलका होना, आरोग्य, अलोलुपता, नेत्रों की प्रसन्नतावर्धक शरीर कांति, मधुर स्वर, शुभ गन्ध, इत्यादि योगप्रवृत्ति के प्रथम लक्षणान्तर्गत आते हैं ।[6] इसी भाव को हठयोगप्रदीपिका में भी स्पष्ट

---

1. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
   तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।।   वही-10/2/31

2. वैदिक कोश—पं० भगवद्दत्त, प्रथम भाग, पृ०-337-351

3. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे, भाग पञ्चम ।

4. समे शुचौ शर्करावह्निबालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
   मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ।।   श्वेता० 2/10

5. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य ।
   ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।
   प्राणान् प्रापीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
   दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताह प्रमत्तः ।।   वही, 2/8-9

6. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
   गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमा वदन्ति ।।   वही, 2/13

करते हुए इनको हठयोग के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[1] इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित योग प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण ही हठयोग के ही लक्षण हैं क्योंकि यह सर्वविदित है कि राजयोग से पहले हठयोग में नैपुण्य परमावश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त कठोपनिषद्[2] तैत्तिरीय,[3] छान्दोग्य,[4] कौषीतकि,[5] इत्यादि उपनिषदों में भी इस योग का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। हठयोग के घटक तत्त्वों में नाड़ी ज्ञान का अपना एक अलग एवं विशिष्ट स्थान है और इसका वर्णन हमें कठोपनिषद् में भी प्राप्त होता है जहाँ वर्णित है कि हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँ से सब ओर फैली हुई हैं। उनमें से एक नाड़ी, जिसको सुषुम्ना[6] कहते हैं, हृदय से मस्तक की ओर गयी है। भगवान् के परमधाम में जाने का अधिकारी उस नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोक में अर्थात् भगवान् के परमधाम में जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है; और दूसरे जीव मरणकाल में दूसरी नाड़ियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासना के अनुसार नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।[7] इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से उपनिषदों में वर्णित तथ्यों का अन्वेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि मोक्ष हेतु प्रक्रियात्मक योग को एक प्रमुख साधन के रूप में जाना जाने लगा था।

---

1. वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
   अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥

   हठयोग प्र०—2/78
2. कठोपनिषद्, 2/6 11,/1/2/12
3. तैत्तिरीय, 2/4, 3/1/9,
4. छान्दोग्य, 7/6/1-2
5. कौषीतकि, 3/2, 3, 4
6. सुषुम्णा चर्व्यवल्लीव मेरुश्लिष्टा पुरोगता।
   ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता वरानने।
   शङ्खिनीनालमालम्ब्य गता सा ब्रह्मसादनम्॥ निगमतत्त्वसारवचन
7. (क) शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
   तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

   कठोपनिषद्—2/3/16

   (ख) हृदयस्य नाड्यः प्राधान्येन शतम्, एका च। एकाधिकशतसङ्ख्याकाः प्रधाननाड्य इति यावत्। तासां मध्ये या मूर्धानमभिनिःसृता तया सुषुम्णाख्यया नाड्याऽन्तकाले ऊर्ध्वमुद्गच्छन्नमृतत्वम्—परमां मुक्तिमधिगच्छति···। श्रीगोपालानन्दस्वामि विरचित भाष्य पृ०—124

प्राचीन ऋषियों ने सूत्रग्रन्थों की रचना के समय इस योग के महत्त्व को स्वीकारा जिसका प्रबल प्रमाण महर्षि गौतम का न्यायदर्शन[1] तथा महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन[2] है । देवल धर्मसूत्र में प्राणायाम का उल्लेख एवं परिभाषा प्राप्त होती है, जिसमें प्राणायाम को तीन प्रकार का माना गया है, कुम्भ, रेचन और पूरण ।[3] महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्ययन में आसन, ध्यान आदि का वर्णन प्राप्त होता है ।[4] वेदों, उपनिषदों में सूचित तथा दर्शन साहित्य में वर्णित योग साधना का पल्लवित-पुष्पित रूप हमें गीता में भी दृष्टिगोचर होता है, जिसमें योगाभ्यासी का स्थान निश्चित किया गया है[5] तथा योगांग के रूप में प्रतिष्ठित ध्यान का वर्णन प्राप्त होता है ।[6]

मनुस्मृति में जहाँ यम और नियम की चर्चा करते हुए यह निर्दिष्ट है कि जो व्यक्ति यमों का सेवन न करते हुए केवल नियमों का ही पालन करता है, वह पतित होता है ।[7] वहाँ याज्ञवल्क्यस्मृति में पद्मासन का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जबकि श्री विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा व्याख्या में इसे बद्धपद्मासन की संज्ञा दी गई है ।[8] इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में भी एक ऐसी नाड़ी का वर्णन प्राप्त होता है जो सूर्यमंडल का

---

1. समाधि-विशेषाभ्यासात् । अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।
   तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।।
   न्याय दर्शन—4/2/38, 4/2/42

2. अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञदानप्रोक्षणदिग्-नक्षत्रमन्त्रकाल-नियमाश्चादृष्टाय । वैशेषिक दर्शन, 6/2/2

3. त्रिविधः प्राणायामः । कुम्भो रेचनं पूरणमिति । देवल धर्मसूत्र कृत्यकल्प । मोक्षकाण्ड

4. ब्रह्मसूत्र, 4,1, 7-11
5. गीता, 6।11-14
6. वही, 18।52

7. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।
   यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ।।
   आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा ।
   ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ।।
   मनुस्मृति 2/204

8. (क) ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम् ।
   उत्तानं किञ्चिदुन्नाम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ।। याज्ञवल्क्य स्मृति-3/198
   (ख) ऊरुस्थावुत्तानौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्मासनः । मिताक्षरा

भेदन कर ब्रह्मलोक के भी पार पहुंचती है तथा जिसके द्वारा जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।[1] इस नाड़ी को कालान्तर में सुषुम्ना के नाम से भी पुकारा गया है।[2] इस नाड़ी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में हमारे शरीर में विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है,[3] जैसाकि अर्वाचीन हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित है।[4]

प्राय: हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में षट्कर्म की त्राटक क्रिया का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इस क्रिया में किसी वस्तु पर अपना ध्यान लगाकर अश्रुपात पर्यन्त एकटक देखते रहना चाहिए।[5] सम्भवत: अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो महाकवि कालिदास ने भी इस क्रिया के महत्त्व को स्वीकार किया है तथा उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि पार्वती ग्रीष्मऋतु में अपने चारों ओर आग जलाकर सूर्य की ओर एकटक देखती रहती थी[6] और जिसका मुख्य ध्येय हठक्रिया द्वारा शिव की प्राप्ति था। इसके अतिरिक्त कालिदास के अन्य ग्रन्थों में हठयोग सम्बन्धी आसन विशिष्ट मुद्राओं का भी वर्णन दृष्टिगत होता है।[7]

पुराण-कालीन युग में भी इन क्रियाओं का महत्त्व बढ़ने लग गया था, जिसका प्रमुख उदाहरण सर्वशिरोमणि भागवत-पुराण है, जिसमें वर्णित है कि मूलाधार से कुण्ड-

---

1. ऊर्ध्वमेक: स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
   ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्॥ याज्ञवल्क्य-3/167
2. इड़ा वामे स्थिता नाड़ी पिङ्गला दक्षिणे मता।
   तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्ना वंशमाश्रिता॥
   पादाङ्गुष्ठद्वये याता शिफाभ्यां शिरसा पुन:।
   ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ शारदातिलक
3. द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनि:सृता:।
   हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति-3/108
4. तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
   प्रधाना: प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता॥ योगमार्तण्ड-17
5. (क) निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहित:।
   अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/31
   (ख) निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
   यावदश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधै:॥ घेरण्ड-संहिता-1/53
6. शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
   विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टि: सवितारमैक्षत॥ कुमारसम्भव 5/20
7. द्रष्टव्य—रघुवंश/13वां सर्ग एवं वीरासन हेतु-13/52

लिनी शक्ति को उठाकर सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना चाहिए। इसकेअतिरिक्त अन्य हठयोग सम्बन्धी क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

गरुड़ पुराण[2] के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण[3] में भी क्रियात्मक योग का वर्णन उपलब्ध होता है तथा इसमें योगाभ्यास का फल भी दर्शाया गया है। शिवमहापुराण में यम नियम सहित आठ अंगों का उल्लेख कर संक्षेप में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही वास्तव में योग के षडङ्ग माने गए हैं।[4] इसके अतिरिक्त उपरोक्त पुराण में आठ आसनों का भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है।[5] अग्निपुराण में आसनों के अतिरिक्त युक्त प्राणायाम से लाभ एवं अयुक्त प्राणायाम से होने वाली हानियों की भी चर्चा की गई है।[6]

कालोपरान्त हठयोग की इन क्रियाओं को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि जिससे तान्त्रिक सम्प्रदाय भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। अनेक तन्त्रग्रन्थों में इन क्रियाओं का महत्त्व प्रकट किया गया है, जिनमें महानिर्वाण तन्त्र इत्यादि मुख्य ग्रन्थ हैं। 11वीं शती के शारदातिलक तन्त्रशास्त्र में नाद, बिन्दु, नाड़ी इत्यादि का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ षड्चक्र निरूपण एवं कुण्डलिनी शक्ति पर भी प्रकाश डाला गया है।[7]

हठयोग के अन्तर्गत आने वाले शिव तथा शक्ति तत्त्व का निरूपण करते हुए तान्त्रिक ग्रन्थ इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि 'शिव' का स्थान सहस्रचक्र है जो कपाल प्रदेश में स्थित है तथाशक्ति का स्थान मूलाधार चक्र है जो कि गुदेन्द्रिय में स्थित हैं।[8]

---

1. भागवतपुराण—स्कन्ध 3 अ० 28, स्कन्ध 11 अ० 15, स्कन्ध 11, अ० 8
2. गरुडपुराण—अध्याय-8
3. ब्रह्मपुराण—योगविधिनिरूपण
4. शिवपुराण—7/2/37-14-16
5. स्वस्तिकं पद्ममध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम्।
   पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा॥ वही—7/2/37-20
6. अग्निपुराण—अध्याय-372, 373
7. शारदातिलक—1/50-57, 25/65
8. Yogic and Tantric Medicine—O.P. Jaggi, p. 121

हठयोग का अर्वाचीन काल

परवर्ती युग में ज्ञान-विज्ञान का ऐसा प्रवाह प्रवाहित हुआ कि मनुष्य को इस तथ्य पर चिन्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि इस दुःखमय संसार रूपी सागर को किस प्रक्रिया रूपी नौका के द्वारा शीघ्रता से पार किया जा सकता है। इसी चिन्तन रूपी गंगा का इतना तीव्र प्रवाह बहा कि चारों ओर उसी का स्वर सुनाई देने लगा तथा उसने समस्त धर्मों, दर्शनों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो अनेक प्रकार की सिद्धियों, जादुई करामातों एवं अनेक परम्पराओं का समावेश लिए हुई थी। जिसके फलस्वरूप हठयोग की सत्ता नाथ सम्प्रदाय के दर्शन सिद्धान्तों में अन्तर्भूत होकर नूतन रूप में प्रकट हुई और जिसने आसन, मुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी, जागरण एवं धौति, बस्ति, नेति, कुञ्जल इत्यादि षट्कर्म रूपी योग के बाह्य अंगों पर इतना अधिक महत्त्व दिया कि उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता से सभी सम्प्रदाय प्रभावित हुए। नाथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के काल (10वीं श० से 11वीं शती के मध्य)[1] में तथा उनके परवर्ती काल में शैव तथा शाक्त साधनाएँ परस्पर एक दूसरे में समा गई थीं। शिव शक्ति में अभेद सम्बन्ध स्थापित हो गया था। स्वयं गोरक्षनाथ के अनुसार पिण्ड में ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है, जिसका उद्बोधन ही हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। हठयोग के अनुयायी ऐसा विश्वास करते थे कि शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास है, दोनों में अविभाग रूप एकता अर्थात् दोनों एकमेव होकर अनुस्यूत हैं। चन्द्रमा तथा उसकी चन्द्रिका की भांति शिव और शक्ति अभिन्न हैं।[2]

---

1. (क) गोरक्ष का जन्म 1100 ई० में या इसके कुछ समय बाद हुआ था।—द्रष्टव्य श्री आर०सी० घेरे कृत मराठी ग्रन्थ 'गोरक्षनाथ की जीवनी एवं शिष्यों की परम्परा' (पृष्ठ 224)—धर्मशास्त्र से उद्धृत पृ०-276

   (ख) श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरक्षनाथ का जन्म दसवीं शताब्दी के लगभग ठहराया है—देखिए 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पृ० 71

   (घ) गोरक्षनाथ का समय यदि दसवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य मान लिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी।

   (ग) विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में—उत्तरी भारत की संत परम्परा-चतुर्वेदी पृ० 56

2. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
   अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
   नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः।
   पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥ सिद्धसिद्धान्त संग्रह 4/37-38

यहाँ यह विचारणीय है कि नाथ से तात्पर्य क्या है ? नाथ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है क्योंकि नाथ के 'ना' शब्द से अनादि रूप अर्थ प्रकटित होता है तथा 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना। श्री गोरक्षनाथ को इसी कारण से नाथ कहा जाता है।[1] क्योंकि "संतों के पूर्व का धार्मिक वातावरण भी विशृंखल था। जैन धर्म का शुद्धाचार धीरे-धीरे तन्त्र एवं योग को स्वीकार कर चुका था। बौद्धों का सम्प्रदाय बदलते-बदलते महायान, वज्रयान एवं सहजयान तक पहुंच चुका था। इन वज्रयानी एवं सहजयानी साधकों में योग की प्रमुखता थी, किन्तु इन्होंने आचरण का एक ऐसा मानदण्ड रखा था, जिसका बाहरी रूप अत्यन्त ही घृणित था। निम्न वर्ग को अपने महायान पर सवार कराकर पार उतारने वाली इनकी क्रान्ति धीरे-धीरे कुण्ठित हो गई थी। सहजयानी सिद्धों में आकर साधना बहुत कुछ लोक-धरातल पर पहुंच गई थी, पर उसका मुद्रा-मैथुन का रूप गर्हित था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नाथपन्थियों का शुद्धतावादी शैव-सम्प्रदाय संगठित हुआ, जिसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधक गोरक्षनाथ हुए। गोरक्षनाथ ने साधना में वज्रदेह की सिद्धि का आदर्श स्वीकार किया और सिद्धों की साधना में शुद्धता का संचार किया।"[2] श्री "गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत से ग्रन्थ चलते हैं, जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई सन्देहास्पद हैं। सब मिलाकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ न कुछ गोरक्षनाथ की वाणी अवश्य रह गई है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं हैं। गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर अनेक प्रकार से प्रचलित काया-योग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामञ्जस्य से चक्रों की संख्या नियत की तथा उन्होंने लोक भाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया।[3] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने श्री गोरक्षनाथ के नाम पर प्रचलित ग्रन्थों का ब्यौरा इस प्रकार से दिया है।

1. अमनस्क 2.अमरौघशासनम् 3. अवधूतगीता 4. गोरक्षकल्प 5. गोरक्षकौमुदी 6. गोरक्षगीता 7. गोरक्षचिकित्सा 8. गोरक्षपञ्चक 9. गोरक्षपद्धति 10. गोरक्षशतक

---

1. नाकारोऽनादिरूपं हिथकार: स्थाप्यते सदा।
   भुवनत्रयमेवैक: श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते।। (राजगुह्य) नाथ सम्प्रदाय पृ०-3
2. संतकाव्य में योग का स्वरूप—पृ०-89
3. नाथ-सम्प्रदाय—107-108

11. गोरक्षशास्त्र 12. गोरक्ष-संहिता 13. चतुरशीत्यासन 14. ज्ञानप्रकाशशतक 15. ज्ञानशतक 16. ज्ञानामृतयोग 17. नाड़ीज्ञानप्रदीपिका 18. महार्थमञ्जरी 19. योगचिन्तामणि 20. योगमार्तण्ड 21. योगबीज 22. योगशास्त्र 23. योगसिद्धान्तपद्धति 24. विवेकमार्तण्ड 25. श्रीनाथसूत्र 26. सिद्धसिद्धान्तपद्धति 27. हठयोग 28. हठसंहिता। इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्त्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे।[1] इसके अतिरिक्त आज भी हठयोग से सम्बन्धित ग्रन्थ अप्रकाश्य ही पड़े हुए हैं।[2]

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हठयोग विषयक उपनिषदों का भी निर्माण कम नहीं हुआ है। इन उपनिषदों से सम्बन्धित काल के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इनमें से कुछ 11 वीं शताब्दी से पूर्व एवं कुछ 11वीं शताब्दी के बाद रची गई।

आचार्य महादेव शास्त्री ने सन् 1920 में मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से 'योग उपनिषद्' नामक ग्रन्थ में 20 उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया। जिनका नाम इस प्रकार है—

1. अद्वयतारकोपनिषद्
2. अमृतनादोपनिषद्
3. अमृतबिन्दूपनिषद्
4. क्षुरिकोपनिषद्
5. तेजोबिन्दूपनिषद्
6. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
7. दर्शनोपनिषद्
8. ध्यानबिन्दूपनिषद्
9. नादबिन्दूपनिषद्
10. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्
11. ब्रह्मविद्योपनिषद्
12. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
13. महावाक्योपनिषद्
14. योगकुण्डल्युपनिषद्
15. योगचूडामण्युपनिषद्
16. योगतत्त्वोपनिषद्
17. योगशिखोपनिषद्
18. वाराहोपनिषद्
19. शाण्डिल्योपनिषद्
20. हंसोपनिषद्[3]

इन उपनिषदों में चतुर्विधयोग एवं उनके घटक तत्त्वों के अन्तर्गत कुण्डलिनी, चक्र, नाड़ी, नाद, बिन्दु विभिन्न आसन और प्राणायाम इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया

---

1. इन पुस्तकों से सम्बन्धित ज्ञान हेतु द्रष्टव्य-वही-पृ० 109-111
2. "To-day, due to popularity of the Subject, innumerable books have been published on Hathayoga, but very few can be said to have been based on a sound study of the tradition and literature. Vast traditional literature on the subject is still lying unpublished" Yoga : Historical Background—Dr. Kenghe P.-189
3. कल्याण का योगाङ्क

गया है। अत एव यह निर्विवाद सिद्ध है कि 11वीं शताब्दी एवं उसके परवर्त्ती काल में हठयोग अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर चुका था तथा उसके प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ रूप में निबद्ध हो गये थे। इस हठयोग की परम्परागत ज्ञान गंगा का परम्परा रूपी प्रवाह अनादि काल से ही प्रवाहित होता आया है। सम्भवत: सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी प्राचीन, यह एक अलग विषय है कि इसका सम्बन्ध किस मत से रहा होगा। इस परम्परा का प्रवाह ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व कुछ कम होने लगा था कि तभी ऐसी विभूति (पातञ्जल) का भारतभूमि में प्रादुर्भाव हुआ, जिसने न केवल प्राचीन ऋषियों एवं योगियों के उद्‌गारों का संकलन किया अपितु उनके उद्‌गारों को दर्शन का ऐसा रूप दिया जो आज समस्त विश्व में पूजनीय है। इसके अनन्तर सम्प्रदाय-ग्रन्थों, पुराणों एवं तन्त्र ग्रन्थों में भी इस प्रक्रिया-प्रधान योग का उत्थान एवं पतन जुड़ा हुआ है। प्राचीन सभ्यता का यह पौधा बाहरी आक्रमणों के बावजूद 11 वीं शताब्दी के बाद ऐसे महान् वट वृक्ष के रूप में प्रतिष्ठित हुआ कि जिसकी शारीरिक एवं मानसिक रोग निवारणार्थ तथा अलौकिक सिद्धि प्रदायक और आत्मानुभूति रूपी छत्र-छाया के नीचे सभी धर्मों, सम्प्रदायों एवं दर्शनों ने आश्रय लिया।

अर्वाचीन काल में लिखे गए हठयोग से सम्बन्धित घेरण्ड-संहिता, शिव-संहिता, षट्चक्रनिरूपण, शिवस्वरोदय और हठयोगप्रदीपिका इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं—इन ग्रन्थों में 14वीं शताब्दी के लगभग की हठयोगप्रदीपिका का अपना अलग एवं विशिष्ट स्थान है।

हठयोगप्रदीपिका

प्रस्तुत पुस्तक से सम्बन्धित आचार्य स्वात्माराम योगीन्द्र के इस ग्रन्थ में समस्त हठयोग विषयक तत्त्व का सार है। यह ग्रन्थ चार उपदेशों में विभक्त है जिसकी कुल श्लोक संख्या (383) है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथम उपदेश—प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए 69 श्लोकात्मक प्रथम उपदेश श्री आदिनाथ एवं गुरु गोरक्षनाथ को प्रणाम करने के उपरान्त हठयोग के 33 सिद्धों के नाम कीर्तन से प्रारम्भ होता है। एतदनन्तर हठाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का निर्देश करके 15 प्रमुख आसनों का लाभ सहित वर्णन तथा योगी के लिए पथ्यकारी और अपथ्यकारी भोजन नियम का सविस्तर विवेचन उपलब्ध होता है। इस उपदेश में यह द्रष्टव्य है कि आसन को हठयोग के प्रथम अंग[1] के रूप में स्वीकार करके ग्रन्थकार

---

1. हठ० प्र०—1/19

ने पातञ्जल योग दर्शन,[1] योगतत्त्वोपनिषद्,[2] एवं जाबालदर्शनोपनिषद्[3], की परम्परा का परित्याग करके किसी अन्य (सम्भवत: पौराणिक अथवा किसी विशिष्ट उपनिषद्) हठ परम्परा का अनुगमन किया है। किन्तु यहाँ यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि हठयोगप्रदीपिकाकार ने यम और नियम की उपेक्षा की है। जहाँ पातञ्जल योग दर्शन का आरम्भ यम, नियम से होता है, वहाँ इस ग्रन्थ का आरम्भ आसन से करके यम और नियम की अवहेलना नहीं की गई, अपितु उनका भी वर्णन किया है।

द्वितीय उपदेश—इस उपदेश में श्लोकों की संख्या 78 है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें प्राणायाम प्रयोजन, षट् कर्म, आहार की उपयोगिता, प्राणायाम का समय, प्राणायाम के आठ प्रकार एवं उनसे प्राप्त होने वाले लाभों का सविस्तर विवेचन और हठयोग एवं राजयोग में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बताते हुए हठसिद्धि का लक्षण स्पष्ट किया गया है।

तृतीय उपदेश—123 श्लोकों से युक्त इस उपदेश में कुण्डलिनी को जीव की मार्मिक शक्ति बताकर उसे सम्पूर्ण योग का आधार बताया गया है।[4] और कुण्डलिनी जागरण के उपाय स्वरूप दस मुद्राओं तथा उनकी सिद्धि पर्यन्त प्राप्त लाभों का सविस्तर विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

चतुर्थ उपदेश—इस उपदेश में समाधि, कुण्डली जागरण, लय आदि की परिभाषा का परिणाम सहित वर्णन करने के उपरान्त शाम्भवी और खेचरी मुद्रा की सिद्धि का स्पष्ट विवेचन किया गया है। अन्त में नादानुसन्धान की चारों अवस्थाओं का निर्देश कर नादश्रवण के परिणामस्वरूप समाधि प्राप्ति एवं उसकी अवस्था का निर्देश 113 श्लोकों में किया गया है।

संक्षेप में यही कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि आजकल के समाज में उत्पन्न विविध रोगों के उपशमन हेतु और हठयोग सम्बन्धी समस्त विश्व में व्याप्त भ्रान्तियों को निरस्त करने में प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा क्योंकि भारतीयदर्शनों में बहुधा भौतिक खण्ड सत्ताओं के पीछे एक अभौतिक, परमार्थ, अद्वय, परम लक्ष्य, परम-शिवरूपी अखण्ड सत्ता की कल्पना की गई और उपर्युक्त प्रमाणों के मूल में भी यही दर्शाया गया है कि बाह्य योग को चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाये, मूलत: उसका एक ही लक्ष्य होता है।

—परमार्थतत्त्व

---

1. पा० यो० द०—2/29
2. यो० तत्त्व० उ०—25
3. जा० द० उ०—1/4-6
4. ह० प्र०—3/1

अध्याय-2

हठयोग के लिए स्थान तथा हठयोग के बाधक और साधक तत्त्व

हठविद्या का प्रयोजन

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र सर्वशक्तिमान् भगवान् श्री आदिनाथ को प्रणाम कर बताते हैं कि यह हठविद्या राजयोग रूपी उच्चतम शिखर पर चढ़ने वालों के लिए सीढ़ी के समान है।[1] इसी विद्या हेतु इस ग्रन्थ की रचना की गई है। हठयोग जहां साधन है वहीं राजयोग साध्य बन जाता है।

सिद्ध परम्परा

हठाभ्यास हेतु स्थान निर्धारण से पूर्व ग्रन्थकार ने अपने पूर्वज सिद्धों का नाम-स्मरण परमावश्यक माना जो आज भी हठयोगसिद्धि की शक्ति से मृत्युञ्जयी होकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। वे सिद्ध हैं—सर्वश्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शाबर, आनन्द भैरव, चौरङ्गी, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, बिलेशय मन्थान, भैरवयोगी, सिद्धि, बुद्ध, कन्थडि, कोरण्टक, सुरानन्द, सिद्धिपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरञ्जन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिण्टिणि, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक आदि।[2]

'आदि' पद पर टीका करते हुए ज्योत्स्नाटीकाकार लिखते हैं कि आदि पद

---

1. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
   विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।—ह० प्र०, 1/1
2. ह० प्र०, 1/5-9

तारानाथ इत्यादि अन्य सिद्धों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] इन आचार्यों द्वारा प्रदत्त यह विद्या सर्वदु:खनिवारणार्थ एकमात्र आश्रय रूपी मठ है।

हठयोगाधिकारी

इस विद्या के सन्दर्भ में कहा गया है कि इस विद्या को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए क्योंकि गुप्त रहने पर यह विद्या अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती है और प्रकट होने पर शक्तिहीन। शिव-संहिता में भी इसी भाव को किंचित् पाठभेद से व्यक्त किया गया है।[2]

अधिकारी के सन्दर्भ में हठयोगप्रदीपिका पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि जितेन्द्रिय, शान्त, भोगों में अनासक्त, निर्दोष और मुमुक्षु आज्ञाकारी अधिकारी को ही इस विद्या का उपदेश देना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति उद्धृत करते हुए आगे कहा गया है कि शास्त्रोक्त कर्मों से युक्त, कामना और संकल्प रहित, यम और नियमों से युक्त, निस्संग, विद्यायुक्त, क्रोधरहित, सत्य, धर्मपरायण, गुरुसेवारत, मातृपितृभक्त, गृहस्थादि आश्रम में स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानों ने जिसको भली प्रकार शिक्षा दी गई हो, ऐसा पुरुष योग का अधिकारी होता है।[3]

हठयोग हेतु स्थान का निर्धारण

एतदनन्तर योगाभ्यासी के योगाभ्यास हेतु उत्तम स्थान की चर्चा की गई है, क्योंकि इस परम्परा के अभ्यासी को सर्वप्रथम स्थान, तदुपरान्त क्रमशः काल, आहार, नाड़ी शुद्धि और प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके विपरीत आचरण करने पर अर्थात् दूरदेश में, अरण्य में और राजधानी में बैठकर योगाभ्यास करने से सिद्धि की हानि होती है।[4]

स्थान निर्धारित करते हुए कहा गया है कि हठयोगी को अच्छे राज्य में, धार्मिक देश में, जहाँ से अच्छी भिक्षा उपलब्ध हो सके, उपद्रवों से रहित, ऐसी कुटिया में वास

---

1. आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः।
2. शिवसंहिता, 207
3. विद्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः।
   यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः॥
   कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः।
   गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः॥
   स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥—ज्योत्स्ना-1/11
4. घे० स०-5/23

करना चाहिए, जो एकान्त में हो, तथा जिसके चार हाथ प्रमाण पर्यन्त पत्थर, अग्नि और जल न हो। पुन: कुटिया के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसका द्वार छोटा हो, छिद्र अथवा बिल रहित हो, भूमि समतल हो, अधिक विस्तृत न हो, गोमय लिप्त, कीटरहित, बाहर का मण्डप वेदी और कूपयुक्त हो तथा जो चारदीवारी से युक्त हो।[1]

स्थान के विषय में प्राचीन कालीन श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि ऊंचे-नीचे स्थान से रहित शुद्ध, पत्थरों से रहित, अग्नि और बालू से वर्जित इत्यादि निर्वात एकान्त गुफा को साधक योगाभ्यास हेतु अपना आश्रय बनाए।[2]

इस प्रकार के भाव योगतत्त्वोपनिषद् और घेरण्डसंहिता में भी दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

हठयोग में बाधक और साधक तत्व

स्थान निर्धारण के पश्चात् योग के बाधक तत्त्वों की चर्चा कर इनके परित्याग का निर्देश दिया गया है, जिनमें अधिक भोजन, अधिक परिश्रम, अधिक बोलना, नियम पालन में आग्रह, अधिक लोकसंगति और मन की चंचलता है।[4] योग में बाधक तथा साधक तत्त्वों का भगवद्गीता में भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें वर्णित है कि अति अशन करने वाले, न बिल्कुल अशन रहित, न अधिक सोने वाले और न अधिक जागने वालों के लिए योग लाभकारी होता है, अपितु युक्त आहार-विहार, युक्त चेष्टा करने वाले और युक्त सोने और जागने वाले को ही योग लाभकारी होता है।[5] शिव-संहिता में (भोगरूप, धर्मरूप, और ज्ञानरूप) मुख्य तीन विघ्न मानकर गौणों की संख्या अधिक बताकर उनका अन्तर्भाव मुख्यों में कर दिया है।[6] कुलार्णवतन्त्र में इनकी संख्या आठ बताकर इन्हें क्रमश: घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुलशील और जाति रूपी पाश कहा गया है।[7]

---

1. ह० प्र०-1/12-13
2. श्वे० उ०—2/10
3. (क) यो० त० उ०, 32-35
   (ख) घे० स०, 5/6-7
4. ह० प्र०, 1/15
5. भग० गी०, 6/16/17
6. शि० सं०—5/3-5
7. Principles of Tantra, 639

ज्योत्स्ना टीका के अनुसार इन (हठप्रदीपिका में वर्णित) छः विघ्नों का परित्याग इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये विघ्न काम और चंचलता की वृद्धि के हेतु हैं तथा इनसे योग विशेषकर नष्ट होता है।[1]

एतदनन्तर उत्साह, साहस, धैर्य यथार्थज्ञान, संकल्प और लोकसंग का परित्याग इन छः तत्त्वों को योग में सहायक माना है।[2] क्योंकि इनके द्वारा योग सिद्धि शीघ्र एवं सुनिश्चित हो जाती है। इस पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि विषयों में लगे चित्त को भी रोकना यह उद्यम रूप साहस, साध्य-असाध्य को विचार कर शीघ्र प्रवृत्ति रूप साहस, धैर्य जैसे कि जीवन पर्यन्त में तो सिद्ध होगा ही इस खेद के अभाव को धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णा के जल तुल्य विषय मिथ्या हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है, यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान, निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुरु के वाक्यों में विश्वास, श्रद्धा, और योगाभ्यास के विरोधी जनों का परित्याग इन छः वस्तुओं से योग शीघ्र सिद्ध होता है।[3]

इस प्रकार आसनों से पूर्व ग्रन्थकार ने योगी का स्थान निर्धारित करके योग में बाधक एवं साधक तत्त्वों का निरूपण करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझा है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका, 1/15
2 ह० प्र०, 1/16
3. ज्योत्स्ना, 1/16

अध्याय-3

आसन

आसनों की संख्या

हठयोगप्रदीपिकाकार ने पातंजल योग प्रणाली का अनुसरण न करते हुए गोरक्ष संहिता,[1] योगचूडामण्युपनिषद्[2] और विष्णुपुराण[3] का अनुसरण किया है। इन्होंने आसन को प्रथम अंग के रूप में स्वीकार करके इसको शरीर में स्थिरता, आरोग्यता और लघुत्व प्रदान करने वाला बताया है।[4] किन-किन आसनों को विशेष मानकर उनका निरूपण करना चाहिए, इस प्रसंग में कहा गया है कि वसिष्ठ आदि मुनियों तथा मत्स्येन्द्रनाथ अदि योगियों द्वारा स्वीकृत कुछ आसनों का ही वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार आसनों की कुल संख्या का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन नहीं करते परन्तु गोरक्ष-संहिता एवं घेरण्ड-संहिता के अनुसार आसन उतने हैं, जितने इस नश्वर जगत् में जीवजन्तु। उन चौरासी लाख आसनों में से चौरासी श्रेष्ठ हैं तथा उनमें भी बत्तीस विशिष्ट हैं।[5] किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने 15 आसनों[6] का और सर्वप्रथम

---

1. गो० सं०, 1/6
2. यो० चू० उ०, 2
3. वि० पु०, 37/16
4. ह०प्र०, 1/19
5. सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
   सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च।।
   मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
   गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा।।
   मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
   उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम्।।
   शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
   द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके हि सिद्धिदम्।। घेरण्ड संहिता, प्रा-16
6. स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्म, धनु, मत्स्येन्द्र, पश्चिमतान, मयूर, शव, सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्र।

स्वस्तिक आसन का उल्लेख किया है। वैसे भी स्वस्ति शब्द भारतीय समाज में कल्याण-कारी माना गया है, यहाँ यह प्रतीत होता है कि इन आसनों के द्वारा समस्त संसार का कल्याण हो, इसी आशय से अभिभूत होकर ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम इस आसन का उल्लेख किया है।

1. स्वस्तिकासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के तलुवों को घुटने और जंघा के मध्य में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके, शरीर को सीधा रखकर सन्तुलित बैठना ही स्वस्तिकासन कहलाता है।[1]

इस आसन का उल्लेख अन्य हठयोग के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। घेरण्ड-संहिता में इस आसन को पाँच आसनों के अनन्तर किंचित् पाठभेद से प्रस्तुत किया गया है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन किया गया है, किन्तु शण्डिल्योपनिषद् में इस आसन को प्रथम स्थान प्रदान कर इस आसन की महत्ता को स्वीकारा है।

यह आसन पैरों के तलवों के लिए बहुत उपयोगी है। जिन व्यक्तियों के पैरों में दुर्गन्ध, पसीना और दर्द की शिकायत रहती है, उन व्यक्तियों को यह आसन प्रातःकाल अवश्य करना चाहिए। इस आसन का चालीस दिन पर्यन्त अभ्यास करने से पैरों के तलवों को असीम बल मिलता है। इसके अभ्यासी को चलने में हल्कापन महसूस होता है। जिन व्यक्तियों के पैरों में ज्यादा दर्द होता है, उनको इस आसन का अभ्यास कम से कम 15 मिनट तक अवश्य करना चाहिए।

2. गोमुखासन

दाहिने गुल्फ को वाम भाग की कटिप्रदेश में तथा वाम गुल्फ को दाहिने भाग

---

1. ह० प्र०, 1।21
2. घे० स०, 2।12
3. त्रि० ब्रा० उ०, 35
4. शा० उ०, 3।1

के कटिप्रदेश में सम्यक् प्रकार से स्थापित करने से जो गोमुखाकृति बनती है, उसे गोमुखासन कहते हैं ।[1]

इस आसन का वर्णन हमें जाबालदर्शनोपनिषद्[2], त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और घेरण्ड-संहिता[4] इत्यादि हठयोग के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। केवल घेरण्ड संहिता में शब्दसाम्य को छोड़कर अन्य दोनों ग्रन्थों में यह श्लोक किंचित् पाठ-भेद से प्रयुक्त हुआ है। प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों में अवश्य पूर्ववर्ती का उत्तरवर्ती ग्रन्थ पर प्रभाव पड़ा होगा।

इस आसन का अभ्यास करते समय यह अवश्य ध्यान देना चाहिए कि मेरुदण्ड बिल्कुल सीधा हो जिससे फेफड़ों में प्राणवायु का सम्यक् प्रकार से संचार हो सके। इसी कारण से यह आसन फेंफड़ों से सम्बन्धित समस्त रोगों का नाश करके, फेफड़ों में विद्यमान वायुग्रन्थियों को अधिक खोलता है, जिससे ज्यादा-से-ज्यादा वायु-ग्रंथियां श्वास का आधिक्य प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त यह आसन समस्त शरीर के साथ-साथ पैरों, घुटनों और दोनों जंघाओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध है। इस आसन का ब्रह्ममुहूर्त में अभ्यास करने से रक्तशुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस आसन के निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनुष्य को कभी भी क्षय और दमा जैसे रोगों की सम्भावना नहीं हो सकती। यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से परम उपयोगी माना गया है।

(3) वीरासन

एक पांव को विपरीत जंघा से स्पर्श कराते हुए तथा दूसरे पांव को विपरीत जंघा के ऊपर स्थापित करने को वीरासन कहते हैं ।[5]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार एक जंघा पर एक पांव तथा दूसरे पांव को पीछे की ओर बढ़ा देना ही वीरासन कहलाता है ।[6] जबकि जाबालदर्शनोपनिषद् के मन्तव्यानुसार

---

1. हठयोगप्रदीपिका, 1।22
2. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3।3-4
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 3
4. घेरण्ड-संहिता, 2/14
5. हठयोगप्रदीपिका, 1/23
6. घेरण्ड-संहिता, 2/15

बाएं पैर को दक्षिण जंघा पर रखकर देह को सीधा करके बैठना ही वीरासन कहलाता है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार एक चरण को बांयी जांघ पर और दूसरे को दाहिनी जांघ पर रखने से वीरासन होता है।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है।[3]

ऐसी कथा प्रचलित है कि इस आसन में लक्ष्मण जी सिद्धहस्त थे और अक्सर वे इसी आसन का उपयोग किया करते थे। इसी कारण से आधुनिक योगविद् इसे लक्ष्मणासन भी कहते हैं। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से जंघाओं, पिण्डलियों को तो असीम लाभ मिलता ही है साथ में इससे चित्त में एकाग्रता भी बढ़ती है। कुछ आधुनिक योगियों के द्वारा यह खड़े होकर भी लगाया जाता है क्योंकि खड़े होकर वीरासन के अभ्यास से शरीर को अत्यधिक लाभ मिलता है। किन्तु श्लोक के अन्वयार्थ हेतु इसे बैठकर ही सिद्ध किया जा सकता है। शिकारी अथवा लक्ष्यार्थ भेदन में निपुणता हेतु यह आसन परमावश्यक माना गया है। इसके साथ-साथ इस आसन के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य के शरीर में ही नहीं अपितु मस्तिष्क को भी असीम बल मिलता है।

(4) कूर्मासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पांवों की एड़ियों से गुदा के विपरीत (दाएं टखने से गुदा के वाम भाग तथा वाम टखने से गुदा के दायें) भाग को दबाकर बैठने को योग के जानकार कूर्मासन कहते हैं।[4]

घेरण्ड संहिता में इसी भाव को इस प्रकार से व्यक्त किया गया है कि दोनों अण्डकोषों के नीचे एड़ियों का अतिक्रमण कराकर सीधा बैठना ही कूर्मासन कहलाता है।[5]

यह आसन पेट, घुटने, जंघा संबंधी समस्त रोगों का निवारण करता है। इस आसन के अभ्यासी को बवासीर जैसे कष्टदायी रोगों की तो सम्भावना ही नष्ट हो जाती है, इसके साथ-साथ यह आसन ब्रह्मचर्य के लिए अति उत्तम माना गया है क्योंकि इसमें बैठने से वीर्य ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इस आसन में श्वास-प्रश्वास की स्थिति सामान्य एवं दृष्टि भ्रूमध्य रखनी चाहिए। इसका सबसे अधिक लाभ यह भी

---

1. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3/6
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिद्, 37
3. शाण्डिल्योपनिषद्, 3/4
4. हठयोग प्र०—1/24
5. घेरण्ड-संहिता, 2/27

है कि इस आसन का अभ्यास यदि कोई व्यक्ति शीतकालीन ऋतु में भी करता है, तो उसे शरीर में उष्णता महसूस होगी। इन सब लाभों के अतिरिक्त यह अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करने में सहायक सिद्ध होता है। यदि इसी आसन में पीछे की ओर झुक जाए तो मेरुदण्ड में लचीलापन आता है और आगे की ओर झुकने से जठराग्नि की अभिवृद्धि के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

(5) कुक्कुटासन

इसकी विधि निर्धारित करते हुए कहा है कि सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से दोनों हाथों को निकाल कर, समस्त शरीर को हाथों से उठाकर, आकाश में स्थित रहना ही कुक्कुटासन कहलाता है।[1]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[2] और घेरण्ड-संहिता[3] में इसी भाव को व्यक्त किया गया है कि आकाश में दोनों भुजाओं को दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से निकालकर, उस पर सम्पूर्ण शरीर का भार वहन करना ही कुक्कुटासन कहलाता है।

इस आसन में योगी की स्थिति मुर्गे सदृश हो जाती है अतएव इस आसन को कुक्कुटासन कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि यह आसन 15-20 मिनट साधने से योगी को उतनी शक्ति प्राप्त होती है, जितनी सामान्य जन को कुक्कुट खाने से प्राप्त होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से हाथों, जंघाओं, घुटनों और पिण्डलियों को तो असीम बल मिलता ही है साथ में वक्षःस्थल पुष्ट होकर फैलता है। इस आसन से जठराग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है तथा सम्पूर्ण शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। जिन व्यक्तियों के हाथ कांपते हों उन्हें यह आसन अवश्य करना चाहिए क्योंकि इस आसन में मनुष्य की हथेलियां मजबूत, अंगुलियां पुष्ट एवं मणिबन्ध सुदृढ़ होता है। सम्पूर्ण भुजा में उत्पन्न किसी भी विकृति के निवारणार्थ यह आसन परम उपयोगी माना जाता है।

(6) उत्तानकूर्मासन

पूर्वोक्त बताये गये कुक्कुटासन की अवस्था में दोनों हाथों से ग्रीवा को पकड़ने पर अभ्यासी की जो आकृति बनती है उसे उत्तानकूर्मासन कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०, 1/25
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 41
3. घेरण्ड संहिता, 2/26
4. ह० प्र०, 1/26

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[1] और घेरण्ड-संहिता[2] में इसी आसन को इन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है कि कुक्कुटासन लगाकर दोनों भुजाओं से दोनों बन्धों को बांधकर कछुए के समान सीधा हो जाना ही उत्तानकूर्मासन कहलाता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कमर पतली, सीना चौड़ा तथा मेरुदण्ड में लचीलापन आता है। कुक्कुटासन से प्राप्त होने वाले लाभों के अतिरिक्त इस आसन के द्वारा नाभिविकृति से उत्पन्न होने वाले दोषों का निवारण शीघ्रता से हो जाता है। जिस प्रकार कछुआ समय पर अपने बाह्य अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार इस आसन के द्वारा योगी बाह्य विषयों से अपना चित्त हटाकर भ्रूमध्य में लगाता है। यह आसन रक्तशोधन करने वाला भी माना गया है। ग्रीवा में उत्पन्न किसी भी विकार को दूर करने में यह परम उपयोगी आसन है। ब्रह्ममुहूर्त में इस आसन का अभ्यास करने से शरीर की दुर्गन्ध जाती रहती है और यदि इस आसन में निर्विकार भाव से शून्य आकाश को देखा जाये तो उससे नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। अतएव यह आसन अन्य कई आसनों से ज्यादा महत्वपूर्ण आसन कहा जाता है।

(7) धनुरासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के दोनों अंगूठों को हाथों से पकड़कर कानों तक खींचकर धनुष के समान स्थापित करना ही धनुरासन कहलाता है।[3]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़कर धनुष के आकार में कानों तक धनुष के समान खींचना ही धनुरासन कहलाता है।[4] जबकि घेरण्ड-संहिता में इसकी विधि इस प्रकार से बताई गई है कि दोनों पांवों को भूमि पर सीधे स्थापित करे तथा दोनों हाथों को पीठ की ओर करके पांवों को पकड़ लेने से शरीर जब धनुष के समान बन जाता है तब धनुरासन कहलाता है।[5]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यदि किसी कारणवश किसी की नाभि अपने स्थान

---

1. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 42
2. घेरण्डसंहिता, 2/28
3. ह० प्र० 1/27
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 43
5. घेरण्डसंहिता, 2/16

से हट जाये, तो उसे इस आसन का अभ्यास 4 से 6 मिनट अवश्य करना चाहिए । ऐसा करने से हटी हुई नाभि अपने स्थान को प्राप्त करती है तथा नाभि स्थान से उत्पन्न होने वाली समस्त नाड़ियां इस आसन के द्वारा अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हैं। यह आसन मोटे पेट वालों के लिए अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन का अभ्यास करने वालों का मेरुदण्ड अत्यधिक लचीला एवं ग्रीवा सुन्दर बन जाती है। हृदय रोगी को यह आसन वर्जित है।

(8) मत्स्येन्द्रासन

दाहिने पैर को वामजंघा के मूल में स्थापित करके, बायें पैर को घुटने के ऊपर से लाकर भूमि पर स्थापित करने के पश्चात् शरीर को इतना मोड़ें कि विपरीत हाथों से दोनों पांवों को अर्थात् दायें हाथ से बायां पैर और बायें हाथ से दायां पैर पकड़ कर स्थिर रहें। इसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं तथा यह श्री मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा बताया गया है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् और घेरण्ड संहिता में भी इस आसन का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

इस आसन के अभ्यासी की जठराग्नि प्रदीप्त होती है। वह साधक अनेक प्रकार के प्रचण्ड रोगों से मुक्ति पा जाता है, इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और योगी का चन्द्ररस अपनी चंचलता का त्याग कर स्थिरता को पाता है।[3]

कुण्डलिनी शक्ति हठयोग का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यह एक ऐसी शक्ति है, जिसके जागृत होने पर ही योगी की मुक्ति सम्भव है। कुण्डलिनी पद्मतन्तु सदृश और कमल के कन्द के समान ही मूलकन्द की फणाग्र से देखकर, अपनी पूंछ को मुख में दबाकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढककर सोई रहती है।[4]

इस शक्ति पर स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि मेरुदण्ड के तल में जो मूलाधार चक्र है,वह बहुत काम की वस्तु है। यही जगह प्रजनन-शक्ति का बीज या वीर्य का आधार है। इस त्रिकोण स्थान में एक छोटा-सा सांप कुण्डली लगाये बैठा है, योगी लोग उसको

---

1. ह० प्र० 1/28
2. (क) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 48-49
   (ख) घेरण्डसंहिता, 2/21
3. ह० प्र० 1/29
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—1/82-83

इस तरह से व्यक्त करते हैं। यह निद्रित सांप ही कुण्डलिनी है, इसको जागृत करना ही समस्त राजयोग का उद्देश्य है।[1]

चन्द्ररस एक ऐसा अमृत है जो मनुष्य के तालु-मूल से स्रवित होता रहता है। उसको नाभि स्थित अग्निस्वरूप सूर्य के द्वारा ग्रसते रहने के कारण ही मनुष्य की आयु क्षीण होती रहती है। अतएव उसकी रक्षा परमावश्यक मानी गई है।[2]

इसके अतिरिक्त यह आसन गुल्फ, प्लीहा यकृत् और पेट के कीटाणु आदि रोगों को नष्ट करता है। भुजबन्ध, जानु, और जंघा सम्बन्धी रोगों में भी लाभकारी है। यह आसन हठयोग प्रवर्त्तक आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के नाम से इसलिए प्रसिद्ध है, क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ इसी आसन का प्रायः प्रयोग करते थे। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से नाद श्रवण और समाधि भी लग सकती है।

(9) पश्चिमतानासन

दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड की भाँति सामने फैलाकर, दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को भली प्रकार से पकड़कर, घुटनों पर मस्तक लगाकर रखना ही पश्चिमतानासन कहलाता है।[3]

इसी भाव को त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि दोनों पैरों को जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के अंगुठों को पकड़कर सिर को घुटनों पर लगाकर रखना ही पश्चिमतानासन कहलाता है।[4]

यह आसन पूर्वोक्त आसनों में अग्रगण्य माना गया है क्योंकि इससे साधक का प्राणवायु मेरुदण्ड स्थित, सुषुम्नावाही हो जाता है। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त, उदर पतला और शरीर रोगरहित होता है।[5] प्राणवायु से तात्पर्य मुख्य वायु से है क्योंकि मुख्य वायुओं की संख्या पाँच मानी गई है[6] और इन मुख्य वायुओं में प्राणवायु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

---

1. सरल राजयोग, पृ० 20
2. ह० प्र०, 3/76
3. ह० प्र०—1/30
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 50-51
5. ह० प्र०—1/31
6. प्राणाऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च। शिवस्वरोदय-42

यह आसन समस्त शरीर के लिए ही उपयोगी माना गया है क्योंकि इससे सम्पूर्ण शरीर के सभी अङ्ग प्रभावित होते हैं। स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को दर्शाया है कि इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्नावाही हो जाता है। सुषुम्नावाही से अभिप्राय समाधि की प्रथम अवस्था अगर मान लिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह आसन जितना उदर के लिए लाभकारी माना गया है उतना ही मेरुदण्ड के लिए भी। इस आसन के सिद्ध होने पर शरीर की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है तथा शरीर से भीनी-भीनी सुगन्ध का आविर्भाव होता है। इस आसन को यथाशक्तिपूर्वक लगाना ही श्रेयस्कर माना गया है।

10. मयूरासन

दोनों हाथों को भूमि पर भली प्रकार स्थापित करके दोनों कोहनियों को नाभि प्रदेश के दोनों ओर लगाकर दण्ड के समान सीधा अधर में उठने को मयूरासन कहते हैं।[1]

जिस प्रकार मयूर दो पैरों के सहारे अपने सम्पूर्ण शरीर को आकाश में साधे रखता है, उसी प्रकार इस आसन के अभ्यासी को भी दोनों हाथों से ऊपर सम्पूर्ण शरीर को अधर में साधे रखना पड़ता है। इसी कारण इस आसन को मयूरासन कहते हैं। जाबाल-दर्शनोपनिषद् में इस आसन की विधि को भली प्रकार से बताते हुए कहा गया है कि अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में रखे, फिर सिर और पांवों को ऊंचा उठाकर आकाश में दण्ड के समान स्थित हो, यह मयूर आसन सब पातकों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि हाथ की दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर रखना और दोनों कोहनियों के नाभि के दोनों तरफ दबा कर बैठना फिर माथे और पैरों को ऊपर उठाकर लकड़ी के समान आकाश में अधर रखना यह मायूरासन है जो सर्वपापों का नाश करने वाला है।

कहीं-कहीं मयूर शब्द की जगह मयूर शब्द प्राप्त होता है।[5] यह आसन कठिन अवश्य है किन्तु इसके लाभ उतने ही अधिक माने गए हैं। स्वयं हठयोग प्रदीपिकाकार ने

---

1. ह० प्र०—1/32
2. जाबालदर्शनोपनिषद्—1/10-11
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—47-48
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/10-11
5. घेरण्डसंहिता—2/25

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मयूरासन के निरन्तर अभ्यास से शीघ्र ही गुल्म, जलोदर आदि सभी रोगों का नाश होता है, यह आसन त्रिदोषों (वात, पित्त कफ) को दूर करता है। इसका निरन्तर अभ्यास अधिक एवं कुपथ्य को भी अच्छी तरह से पचाता है। तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करके विष को भी मस्त करने की सामर्थ्य रखता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कोहनियों, हथेलियों और मणिबन्धों को असीम बल की प्राप्ति होती है। इससे उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण हो जाता है। शरीर का कंपायमान होना बन्द हो जाता है। शरीर में रक्त का प्रवाह ठीक प्रकार से होने लगता है। फेफड़ों तथा नेत्रों के लिए यह अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन के अभ्यासी पर विष का प्रभाव नहीं होता। अतएव इस आसन को समस्त हठयोग के ग्रन्थों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त होता है।

11. शवासन

मेरुदण्ड को सीधा करके पीठ के बल भूमि पर शव के समान लेट जाना ही शवासन कहलाता है। यह आसन शारीरिक थकान दूर करने के साथ-साथ मानसिक शान्ति प्रदायक माना गया है।[1]

घेरण्डसंहिता में भी इन शब्दों के साथ इस आसन का वर्णन किया गया है कि शव के समान पृथ्वी पर सीधा लेट जाना ही शवासन कहलाता है तथा इसको श्रम का हरण करने वाला बताया गया है।[2]

यह आसन जितना आसान है उतना ही कठिन भी माना गया है। समस्त आसनों, प्राणायामों एवं मुद्राओं से उत्पन्न थकान इसी आसन से दूर हो जाती है। प्रायः योगी लोग इसी आसन का प्रयोग आसनों के उपरान्त करते हैं। यदि अपनी चित्तवृत्ति को बाह्य विषयों से हठाकर चक्रों पर इस आसन में केन्द्रित किया जाय तो शीघ्र ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर, चक्रों का भेदन कर, ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से अनाहत नाद का भी श्रवण किया जा सकता है। हृदयरोगी के लिए यह आसन परमोपयोगी माना जा सकता है।

शीर्षासन के बाद इस आसन का प्रयोग अवश्य ही करना पड़ता है अन्यथा हानि की ही सम्भावना उत्पन्न हो सकती है।

---

1. ह० प्र०—1/34
2. घेरण्डसंहिता—2/17



12. सिद्धासन

गुदा तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग में एक चरण की एड़ी को दृढतापूर्वक लगाकर, दूसरे पैर की एड़ी को लिंगेन्द्रिय के ऊपर दृढ़ता से रखकर, ठोड़ी को हृदय के ऊपरी भाग पर अच्छी प्रकार स्थापित कर उपरान्त इन्द्रियों को वश में करके, भ्रूमध्य भाग को एक-टक दृष्टि से देखें। मोक्ष द्वार का भेदन करने वाला यह सिद्धासन कहा गया है। इस आसन को कुछ विद्वान् लोग सिद्धासन, अन्य वज्रासन, कुछ मुक्तासन और कोई इसे गुप्तासन के नाम से पुकारते हैं।[1]

इस आसन की चर्चा करते हुए आगे कहा गया है कि जिस प्रकार यमों में मिता-हार और नियमों में अहिंसा का स्थान है वैसे ही समस्त आसनों में सिद्धासन मुख्य है। यदि कोई योगी केवल इसी आसन का अभ्यास करता है तो उसके शरीर की 72 सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[2] हठयोग के ग्रन्थों में ऐसा माना गया है कि हमारे शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ विद्यमान हैं।[3]

इस आसन के सिद्ध होने के पश्चात् अन्य किसी भी आसन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस आसन को सावधानी पूर्वक करने से प्राणवायु केवल कुम्भक में बन्ध जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से उन्मनी कला स्वयमेव जागृत हो जाती है और तीनों बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डीयानबन्ध) स्वयं ही लग जाते हैं। यह आसन समस्त आसनों में मुख्य माना जाता है।[4]

13. पद्मासन

बायीं जंघा के ऊपर दाहिना पांव तथा दाहिनीं जंघा पर वाँयाँ पाँव रखकर दोनों हाथों को कमर के पीछे से लाकर दाहिने हाथ में दायें पैर के अंगूठे को तथा बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ कर ठुड्डी के कण्ठकूप से लगाये। इसके पश्चात् अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिर रखे, तो सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने

---

1. ह० प्र०—1/37-39
2. वही—1/40-41
3. (क) शिवस्वरोदय—32
   (ख) ध्यानबिन्दूपनिषद्—51
4. ह० प्र०—1/43

वाला यह पद्मासन कहलाता है। तथा दूसरे मत के अनुसार दोनों चरणों को यत्नपूर्वक विपरीत जंघाओं पर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करके ठुड्डी को कण्ठकूप से लगायें तत्पश्चात् नाभि के नीचे वाम हथेली पर दक्षिण हथेली को रखकर अंजलि मुद्रा बनाकर बैठें, प्राणवायु को धीरे-धीरे ऊपर उठाकर, नासाग्रदृष्टि रखते हुए जिह्वा को तालु के अग्र-भाग पर स्थापित करें। इसे पद्मासन कहते हैं जो सब प्रकार के रोगों का नाशक है। कोई बुद्धिमान् विरला पुरुष ही इसे प्राप्त करता है, सब लोग इसे सिद्ध नहीं कर सकते।[1]

प्रथम के स्वरूप को देखते हुए उसे बद्धपद्मासन की ही संज्ञा देना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकार के पद्मासन का उल्लेख सर्वमान्य नहीं है। पद्मासन के स्वरूप को बताते हुए दूसरा लक्षण सही होता है। योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार दोनों जाँघों पर एक दूसरे पैर के तलवों को सीधा रखने से पद्मासन कहलाता है जो सब पापों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] के अनुसार दोनों जाँघों पर दोनों पैर के तलवों को रखकर बैठने से पद्मासन होता है जो सब व्याधियों और विषों का नाशक बताया गया है। पद्मासन पर अच्छी तरह से बैठकर दाहिने हाथ से बाएं पैर के अंगूठे को और बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ना बद्ध-पद्मा-सन कहलाता है। जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दोनों जंघाओं पर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को उल्टी रीति से पकड़ कर रखना, सर्वमान्य पद्मासन है।[4] जाबालदर्शनोपनिषद् ने भी दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को पीठ के पीछे से लाकर पकड़ने को ही पद्मासन कहा है।[5]

किन्तु बद्ध-पद्मासन के यदि शाब्दिक तत्त्व का अनुशीलन किया जाये तो यही अर्थ निकलता है कि जिस आसन में शरीर बाँधा जाये वही बद्ध-पद्मासन कहलाता है। इसके लाभों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो योगी इस आसन में स्थित होकर नासिका द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर रोकता है, वह मुक्त है।[6] प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ठहरना ही समाधि की अवस्था का द्योतक है। प्राण की प्रशंसा करते हुए शिव-स्वरोदय में कहा गया है कि 'प्राण ही परम मित्र है। प्राण ही परम सखा है और प्राण के सदृश श्रेष्ठ बन्धु कोई नहीं है।[7] प्राणायाम के सिद्ध होने के पश्चात् पद्मासन में ही

---

1. ह० प्र०—1।46-49
2. योगकुण्डल्युपनिषद्—1।5
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—39-40
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/3
5. जाबालदर्शनोपनिषद्—3/5
6. ह० प्र०—1/51
7. शिवस्वरोदय—219

योगी भूमि से ऊपर उठने लगता है।[1] यह आसन पैरों, घुटनों और जंघाओं के लिए बहुत अच्छा माना गया है। इस आसन के सिद्ध होने पर योगी की समाधि स्वयमेव लगने लग जाती है।

14. सिंहासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों ओर अर्थात् बाँयी ऐड़ी को दाहिने पार्श्व में तथा दायीं एड़ी को वाम पार्श्व में स्थापित कर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रख तथा सभी अंगुलियों को फैला कर मुख को यथाशक्ति खोलकर अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिति करना सिंहासन कहलाता है।

यह आसन उत्तम योगियों द्वारा पूजित है, क्योंकि इस आसन में तीनों बन्ध स्वयमेव लग जाते हैं।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है।[3] जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दाहिने गुल्फ के साथ बाएँ गुल्फ को और बायें गुल्फ के साथ दायें गुल्फ को लगाकर बैठना, दोनों हाथों को दोनों बाजुओं पर रखना, दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर, भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुख में नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखना, सिंहासन कहलाता है। योगीजन सदा इसकी प्रशंसा करते हैं।[4]

सीवनी नाड़ी पर दबाव पड़ने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। अत: ब्रह्मचर्य हेतु यह आसन सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। मुख को यथाशक्ति खोलने से यह गले तथा जिह्वा के लिए उपयोगी माना जा सकता है। इससे नेत्रज्योति तो बढ़ती ही है, इसके निरंतर अभ्यास से शरीर में असीम बल, सिंह सदृश साहस भी उत्पन्न होता है। तीनों बन्ध लग जाने से योगी की आयु में वृद्धि, कामदेव सदृश देह की प्राप्ति के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी आसन सहायक सिद्ध हो सकता है।

15. भद्रासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के पार्श्व भाग में इस प्रकार

---

1. योगतत्त्वोपनिषद्—55
2. ह० प्र० —1/52-54
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् —44
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/5-6

से स्थापित करें कि वाम एड़ी सीवनी नाड़ी के वाम और दाहिनी एड़ी सीवनी नाड़ी के दायें भाग पर आये तत्पश्चात् अपने दोनों हाथों से पैरों को भली प्रकार पकड़कर स्थिर रहें। वह भद्रासन सभी रोगों को दूर करने वाला कहा गया है। कुछ सिद्धयोगी इसे गोरक्षासन भी कहते हैं। योगियों को इस प्रकार के हल्के आसनों से उत्पन्न श्रम को दूर करना चाहिए।[1]

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार लिंगेन्द्रिय के नीचे की सीवनी पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को दृढता पूर्वक पकड़ कर निश्चित बैठने से भद्रासन होता है, जो समस्त रोगों और विष आदि का नाश करने वाला है।[2] जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार दोनों घुटनों को अण्डकोष के नीचे, पार्श्वों में रखने और दोनों हाथों से पार्श्वभाग तथा पाँवों को दृढ़ता से बाँधकर बैठने को भद्रासन कहते हैं, यह भद्रासन विष से उत्पन्न हुए रोगों का नाश करने वाला है।[3] घेरण्ड-संहिता में इस आसन को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दोनों एड़ियों को उलट कर अण्डकोशों के नीचे रखें तथा पीठ की ओर पद्मासन के समान दोनों अंगूठों को पकड़ लें, जालन्धर वन्ध की स्थिति करके नासिका के अग्रभाग को देखें, यह भद्रासन कहलाता है।[4]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी तथा मूत्र सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। "ब्रह्मचर्य के लिए यह बहुत उपयोगी माना जाता है।" नितम्ब प्रदेश में उत्पन्न सभी दर्दों को यह दूर करता है। इसे बच्चों, युवाओं और वृद्धों के लिए सबसे सरल और उपयोगी माना जा सकता है। यह आसन घुटनों, जंघाओं और पिण्डलियों के लिए भी उपयोगी है।

शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि ये आसन समस्त रोगों के निवारक और विष का शमन करने वाले हैं अशक्य व्यक्ति को भी इन्हें सुखपूर्वक धारण करने का अभ्यास करना चाहिए। इन आसनों की सिद्धि त्रिलोक की सिद्धि के समान है।[5]

---

1. ह० प्र०—1/55-56
2. शा० उ०—3/8
3. जा० द० उ०—3/7
4. घे० सं०—2/9
5. शाण्डिल्योपनिषद्—3

अध्याय-4

नाड़ी-शोधन प्राणायाम

आसनों के पश्चात् हठयोग के सभी ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया गया है कि वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल होता है तथा वायु के स्थिर हो जाने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है और तभी योगी स्थिरता को प्राप्त होता है।[1] जब तक शरीर में वायु की विद्यमानता रहती है तब तक ही जीवन कहलाता है, उसका शरीर से निकल जाना ही मरण है। अत: प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। किन्तु मलयुक्त नाड़ियों में प्राणवायु का गमन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता और जब तक प्राणवायु का गमन नहीं होता तब तक उन्मनी अवस्था की प्राप्ति असंभव है। उन्मनी अवस्था को स्पष्ट करते हुए हठयोगप्रदीपिकाकार स्वयं लिखते हैं कि जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब मन में स्थिरता आ जाती है। मन का सम्यक् रूप से स्थिर रहना ही उन्मनी अवस्था कहलाती है।[2] मलों से व्याप्त सभी नाड़ियां जब निर्मल हो जाती हैं तब साधक समुचित रूप से प्राणवायु को नियंत्रित करने में समर्थ होता है। इसीलिए प्रतिदिन सात्त्विक बुद्धि से नाड़ी-शोधन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि कुश का आसन, मृगछाला या सिंह छाला कम्बल अथवा स्थल में से किसी प्रकार के आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके, नाड़ी शुद्ध होने पर प्राणायाम का साधन करना चाहिए।[3] गोरक्षसंहिता के अनुसार प्राण-अपान को संयुक्त करके प्रणव की बारह मात्राओं से पूरक[4] करना चाहिए। इससे सभी दोषों का शोधन

---

1. (क) गोरक्ष-संहिता—1/89
   (ख) ह०प्र०—2/2
2. वही—2/42
3. घेरण्ड-संहिता, 5/32
4. (क) पूरक—श्वास वायु को नासिका द्वारा उदर में भरना पूरक कहलाता है।
   (ख) रेचक—नासिका द्वारा श्वास को निकालना।
   (ग) कुम्भक—श्वास को उदर में रोके रखना कुम्भक कहलाता है।

हो जाता है। यह योगियों के लिए सदा ज्ञातव्य है।[1]

नाड़ी शोधन की प्रक्रिया को निरूपित करते हुए हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि पद्मासन में बैठकर साधक को चन्द्र नाड़ी (बायीं नासिका) से श्वास को ग्रहण करके अपनी शक्ति के अनुसार श्वास को रोककर सूर्य नाड़ी (दायीं नासिका) से श्वास को छोड़ना चाहिए और पुनः प्राणवायु को सूर्यनाड़ी द्वारा खींचकर धीरे-धीरे करके फिर विधिवत् श्वास को उदर में रोककर चन्द्रनाड़ी से छोड़ देना चाहिए जिससे श्वास का त्याग किया हो उसी नासिकारन्ध्र से श्वास का ग्रहण कर श्वास को तब तक रोकें जब तक श्वास छोड़ने की संवेदना न हो। और तब श्वास को धीरे-धीरे दूसरे नासिका-रन्ध्र से छोड़ें। यदि प्राणवायु को इड़ा से पूरित करें तो उसे कुम्भक कर पुनः दूसरे से छोड़ देना चाहिए और बाद में पिंगला से वायु ग्रहण करके, कुम्भक कर, बायें से छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार बायें और दाहिने नासिकारन्ध्र से लगातार प्राणायाम का अभ्यास करने से योगसाधकों के नाड़ी-समूह तीन मास से कुछ अधिक समय में निर्मल हो जाते हैं।[2] उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होता है किन्तु प्राणायाम के गलत अभ्यास से वायु के प्रकोप से हिचकी, दमा, खांसी, सिर, कान और आंखों में पीड़ा तथा अन्य प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।[3] और जब नाड़ियां निर्मल हो जाती हैं तब उसके बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे शरीर निश्चित रूप से पतला और कान्तिमान् हो जाता है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अन्तः प्रवर्तित नाद का अनुभव होता है तथा आरोग्य लाभ होता है।[4]

षट् कर्म

षट्कर्म उन छः क्रियाओं का नाम है, जिनके द्वारा शरीर का शोधन माना गया है। यह छः शोधन क्रियाएं स्थूलता और कफ वाले व्यक्ति को सबसे पहले करनी चाहिए। किन्तु जिन व्यक्तियों में त्रिदोषों (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उन्हें इन क्रियाओं के अभ्यास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। ये छः शोधन क्रियाएं इस प्रकार से हैं—धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।[5]

---

1. गोरक्ष-संहिता—2/3
2. ह० प्र०—2/7-10
3. वही—2/16-17
4. वही—2/19-20
5. (क) वही—2/22
   (ख) घेरण्ड-संहिता—1/12

1. धौति

चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा कपड़ा, जल में भिगोकर गुरु के निर्देश के अनुसार धीरे-धीरे निगलना चाहिए। पुन: इसे धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए—इसे धौति-क्रिया कहते हैं।[1] जबकि घेरण्ड-संहिता के अनुसार अन्तधौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन के भेद से धौतिकर्म चार प्रकार का माना गया है। इसके द्वारा योगी स्वशरीर को स्वच्छ एवं सुन्दर बनाते हैं।[2] इस धौतिक्रिया के फलस्वरूप खांसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अन्य बीस प्रकार के कफ-सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।[3] इसके साथ ही क्रमश: नाड़ी समूहों पर नियन्त्रण पाकर साधकगण अपानवायु को ऊपर उठाकर कण्ठनली में लाकर, उदरस्थित पदार्थों (अन्न आदि) का वमन करते हैं। हठ-योग के जानकार इसे गजकरणी कहते हैं।[4]

2. बस्ति

नाभिपर्यन्त जल में स्थित होकर गुदा में एक नली का प्रवेश कराकर उत्कटासन में साधक गुदा का संकोचन कर जल द्वारा अन्दर के भाग का शोधन करे। इसी क्रिया को बस्ति क्रिया कहते हैं।[5] घेरण्ड-संहिता में बस्तिकर्म दो प्रकार का बताया गया है—(1) जलबस्ति और (2) शुष्कबस्ति। जलबस्ति जल में और शुष्कबस्ति स्थल में की जाती है।[6]

इस बस्ति-क्रिया के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाले सभी दोष नष्ट हो जाते हैं, इससे त्रिदोषों का पूर्णत: निवारण हो जाता है, धातु, इन्द्रिय तथा अन्त:करण की प्रसन्नता होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर कामदेव के समान सुन्दर व आकर्षक बन जाता है।

3. नेति

चिकनी और लगभग नौ इंच लम्बी सूत से बनी सूत्र नेति को नासिका में डाल-

---

1. ह०प्र०—2/24
2. घेरण्ड-संहिता—1/13
3. ह० प्र०—2/25
4, वही—2/38
5. वही—2/27
6· घेरण्ड-संहिता—1/45

कर उसे मुख से बाहर निकालना ही नेति कर्म कहलाता है।[1]

इस क्रिया के अभ्यास से कपालप्रदेश की शुद्धि होती है। यह दिव्यदृष्टिप्रदा-यिनी है। इससे स्कन्ध प्रदेश से ऊपर होने वाले रोगसमूहों का नाश होता है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार आधे हाथ लम्बा डोरा लेकर नासिका में डालकर मुख के द्वारा बाहर निकालना नेति कर्म कहलाता है। इसके साधन से खेचरी मुद्रा की सिद्धि कफ-दोषों की निवृत्ति और दिव्यदृष्टि उपलब्ध होती है।[2]

4. त्राटक

स्थिर दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र होकर तब तक देखना जब तक आंख से आंसू न आ जाय। आचार्यों द्वारा यह त्राटक कर्म कहा गया है।[3]

इस त्राटक के द्वारा नेत्र रोगों का नाश होता है तथा तन्द्रा आदि की निवृत्ति होती है। अतः इस त्राटक को सोने की पेटी के समान महत्त्व देकर इसकी रक्षा करनी चाहिए।[4]

इस क्रिया में अपनी दृष्टि को किसी भी सूक्ष्म पदार्थ पर केन्द्रित करना चाहिए। यदि किसी वृक्ष के पत्तों पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया जाये तो नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। इसका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। इसके सिद्ध होने पर मनुष्य की एकाग्रता बढ़ती है तथा वह किसी भी प्राणी को वशीभूत कर सकता है।

5. नौलि

स्कन्ध प्रदेश को (60 डिग्री) आगे की ओर झुकाकर तीव्र वेग वाले भंवर के समान उदर के दायें भाग को वाम भाग तथा वाम भाग को दाहिनी तरफ वेग से घुमाना चाहिए। सिद्धों ने इसे ही नौलिकर्म कहा है।[5]

नौलि क्रिया करने से पूर्व उड्डीयान बन्ध अवश्य लगाना चाहिए। इस क्रिया को करने से पहले सीधे खड़े होकर, दोनों पांवों में एक फुट के लगभग दूरी रख कर, दोनों

---

1. ह० प्र०—2/29
2. घेरण्ड-संहिता—1/50-51
3. ह० प्र०—2/31
4. वही—2/32
5. वही—2/33

हाथों से दोनों पाँवों के घुटनों को दबाते हुए वायु का रेचक करके पेट को पिचका कर मेरुदण्ड से लगाना चाहिए। इस क्रिया के पश्चात् नल तथा नाभि प्रदेश को ऊपर उठाने का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया के चालीस दिन अभ्यास करने के बाद नल तथा नाभि अपने स्थल से ऊपर की ओर आ जाता है। तत्पश्चात् उस प्रदेश को उदर में भंवर के समान घुमाना चाहिए। इसी क्रिया को नौलि कर्म कहते हैं।

सदा प्रसन्नतावर्धक इस नौलि कर्म के प्रभाव से मन्द हुई जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा पाचन शक्ति में वृद्धि होती है। हठक्रिया में अग्रणी यह अनेक प्रकार के रोगों की नाशक है।[1]

6. कपालभाति

लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक श्वास का रेचक तथा पूरक करने को कपालभाति कहते हैं। इससे कफ आदि रोगों की निवृत्ति होती है।[2]

घेरण्ड-संहिता में इस क्रिया के तीन भेद बताये गये हैं—

(क) **वातक्रम**—इड़ा नाड़ी से वायु का पूरक और पिंगला से रेचन तत्पश्चात्, पिंगला से पूरक तथा इड़ा से रेचक।

(ख) **व्युत्क्रम**—दोनों नासारन्ध्रों से जल को खींचकर मुख से निकालना तथा मुख से पीकर दोनों नासारन्ध्रों से जल को निकालना।

(ग) **शीत्क्रम**—शीत्कार के साथ जल को मुख के द्वारा ग्रहण करके दोनों नासारन्ध्रों से निकालना।

उपर्युक्त निर्दिष्ट षट्क्रियाओं द्वारा मुटापा, कफ, पित्त और वात सम्बन्धी रोग तथा मल इत्यादि दोषों का निवारण करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना चाहिए क्योंकि इससे प्राणायाम अनायास ही सिद्ध होता है।

कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि सभी प्रकार के मलों का केवल प्राणायाम से ही नाश हो जाता है। अत: वे अन्य क्रियाओं की आवश्यकता नहीं समझते।[3] सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इन षट् कर्मों की उपयोगिता को समझ कर उन षट् कर्मों का सविस्तार विवेचन किया है तथा उन्होंने पहले ही कह दिया है कि "इन षट् क्रियाओं को करने के बाद प्राणायाम अनायास ही सिद्ध हो जाता है।[4]

---

1. ह० प्र०—2/34
2. वही—2/35
3. वही—2/37
4. वही—2/36

प्राणायाम

प्राणायाम द्वारा स्वास्थ्य-सम्पादन की विधि दैवी चिकित्सा है। शरीरस्थ च्यवनप्रक्रिया को अश्विनीकुमार या प्राणायाम ही सम्यक् रोककर पुनः स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि कर सकते हैं। शरीरस्थ रसों को फिर से यविष्ट बनाने वाली विधि भी प्राणायाम ही है। प्राचीन ऋषियों ने प्राणविद्या के रहस्य को जानकर जिस योगविधि का आविष्कार किया, अनन्तकाल तक यही विधि अमृततत्त्व और दीर्घ आयुष्म की प्राप्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट मानी जाती रहेगी। प्राण की प्रतिष्ठा ही अमृततत्त्व है, प्राण की उत्क्रान्ति ही मृत्यु है। ब्रह्मचर्य ही प्राणप्रतिष्ठा का सर्वोत्तम मार्ग है। सर्व प्रकार की निर्विकारिता ही प्राणों को प्रकृतिस्थ क्षोभरहित रखती है।[1] साधारणतः हमारा चित्त जब संसारमुखी होता है तब श्वास भी बाहर की ओर विचरण करता है। इस श्वास की गति की ओर योगियों ने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिका से चलता है तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवों का श्वासप्रवाह इन्हीं दो नासापुटों से प्रवाहित होता है, अतएव संसार-वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगियों ने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहर की ओर गमनागमन न करे। बाहर की ओर गमनागमन करने का पथ इड़ा और पिंगला नाड़ी हैं और साधारणतः अज्ञानी की ज्ञाननाड़ी-सुषुम्ना-पथ बन्द रहता है। योगी इसीलिए इड़ा और पिंगला नाड़ी का द्वार बन्द करके सुषुम्ना मार्ग से प्राण को चलाने की चेष्टा करते हैं, अन्यथा मनुष्य के अन्दर वास्तविक ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं। हमें समस्त ज्ञान नाड़ी-पथ से होता है। ब्रह्मज्ञान भी नाड़ी-पथ से ही होता है, वह ब्रह्मज्ञान प्रवाहिका नाड़ी सुषुम्ना है। उसी से प्राण को चलाना ही प्राणायाम का वास्तविक उद्देश्य है।[2]

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है···'प्राणस्य आयामो गतिरोधः' अर्थात् प्राण वायु अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम कहलाता है। आचार्य पातंजल के अनुसार आसन के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने का ही नाम प्राणायाम है।[3]

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, अपितु दशों वायु वश में आ जाते हैं। परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आ जाने

---

1. कल्याण योगांक—पृ० 658
2. कल्याणांक—720
3. पातंजल योगदर्शन—2/49

के सव मार्ग बन्द कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम-रोम में नाड़ी मुखों का अन्त है, जिनके द्वारा शरीर में पवन आता जाता है। इसी कारण कुछ योग-पन्थों में भस्म धारण आवश्यक बताया गया है। किन्तु वायु के यातायात के प्रधान द्वार नौ हैं। इन नौ द्वारों को बन्द रखना नाथपन्थी भाषा में 'वायुभक्षण' के लिए आवश्यक है। इस प्रकार जब वायु शरीर में व्याप्त हो जाता है तो बिन्दु स्थिर होकर अमृत का आस्वादन होता है और अनाहत नाद सुनाई देने लगता है, तथा स्वयं-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं।[1] कुम्भक के समय-भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है उत्तम मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम प्राणायाम में कुम्भक 50 सेकण्ड का होता है, मध्यम 33 सेकण्ड का और कनिष्ठ प्राणायाम 16 सेकण्ड का होता है।

प्राणायाम	पूरक	कुम्भक	रेचक	बाह्य कुम्भक
कनिष्ठ	4	16	8	1
मध्यम	6	33	10 से 12	2
उत्तम	8	50	12 से 16	3

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश होने के पश्चात् प्राणतत्त्व सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ने लगता है। आरम्भ में वह पिपीलिका (चींटी) के समान धीरे-धीरे सूक्ष्म परिमाण में ऊपर चढ़ता है। पश्चात् तीनों ग्रन्थिभाग के आगे नाड़ी के शेष भाग की शुद्धि होने पर मेढक की गति से कूदकर ऊपर चढ़ने लगता है और भस्त्रा प्राणायाम द्वारा कुम्भक बढ़ने से ग्रन्थियों के भेदन होने पर विहङ्गम (पक्षी) की तरह उड़कर शीघ्र प्राणतत्त्व सहस्रदलकमल में प्रवेश करता है। जब प्राणतत्त्व मस्तिष्क में जाने लगता है तब मस्तिष्क का शोधन हो जाता है और सहनशीलता भी बढ़ जाती है, जिससे कष्ट मालूम नहीं होता। एकाध वर्ष बाद जब प्राणतत्त्व अधिक वेग से गति करने लगता है तब मन की एकाग्रता होकर आनन्द का अनुभव होने लगता है।[2]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम के सम्बन्ध में कहा गया है कि विधिपूर्वक प्राणा-याम के अभ्यास से समस्त नाड़ी समूहों के निर्मल होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख का भेदन कर उसमें सुखपूर्वक प्रविष्ट हो जाता है, इसका सुषुम्ना में प्रवेश होने पर मन में स्थिरता उत्पन्न होती है। मन का भली प्रकार से स्थिर हो जाना ही मनोन्मनी अवस्था कहलाता है।[3]

---

1. कल्याण का योगांक—पृ० 703
2. वही—पृ० 553
3. ह० प्र०—2/41-42

इसके अनन्तर हठयोगप्रदीपिका में कुम्भक भेद का निरूपण करते हुए कहा गया है कि 'सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक होते हैं।[1] गोरक्ष-संहिता के अनुसार प्राणायाम तीन प्रकार का है।[2] योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार प्राणायाम चार प्रकार का है—सूर्यभेदी, उज्जायी शीतली और भस्त्रिका।[3] शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है।[4]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम करने से पूर्व कुछ बातों को आवश्यक माना है कि पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए और कुम्भक के अन्त तथा रेचक के प्रारम्भ में उड्डियान बन्ध करना चाहिए। जालन्धर बन्ध के पश्चात् नीचे के प्रदेश (गुदा) का शीघ्रता से आकुञ्च करना चाहिए इसी को मूलबन्ध भी कहते हैं। मूलबन्ध होने से तथा मध्यभाग (उदर) को पीछे की ओर दबाने से अर्थात् उड्डियान बन्ध लगाने पर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है।[5]

प्राणायाम के भेदों का निरूपण

1. सूर्यभेदन

योगाभ्यासी को सर्व प्रथम किसी भी प्रकार का आसन बिछाकर, उस पर सुखपूर्वक (कोई भी) आसन लगाना चाहिए। तदनन्तर दाहिने नथुने से बाहरी वायु को धीरे धीरे अन्दर खींचकर, उसे जब तक सम्भव हो सके अधिकाधिक रोककर बायें नथुने से धीरे-धीरे श्वास को छोड़ना चाहिए। इसी को सूर्यभेदी प्राणायाम कहते हैं। यह अभ्यास मस्तकप्रदेश को शुद्ध करता है, वात-सम्बन्धी रोगों का नाशक है, उदर में

---

1. (क) ह० प्र०—2/44
   (ख) घेरण्ड संहिता—5/55
2. गोरक्ष-संहिता—2/4-6
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—21
4. शाण्डिल्योपनिषद्, षष्ठ खण्ड
5. (क) ह० प्र०—2/45-46
   (ख) मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धरबन्ध के लिए मुद्रा निरूपण अध्याय द्रष्टव्य है।

इडा हि पिङ्गला ख्याता वाराणसीति होच्यते वाराणसी भ्रुवोर्मध्ये

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥

मुक्तावस्था

गुरुदेव प्रथम पुरुष

ऊर्ध्ववायु

जप 2000

सर्ववर्ण

सोऽहं मात्रा

उन्मनि अवस्था

अर्ध मात्रा

आनन्द देह

शिवस्थान

सूक्ष्मवेद सूर्य

पराप्पर वाचा

पीतवर्ण

त्रिकूट

आवृत्ति

त्रिबन्ध

आकाश ऋषि

कैवल्य

दत्तात्रेय

वैखरी वाचा

माया

उन्मनि अवस्था

त्रिवेणी

आनन्द देवता

कृष्ण वर्ण

चित्तशक्ति

त्रिपद

सगुण

ऋग्वेद

त्रिशून्य

स्थूल देह

सरस्वती नदी

यमुना नदी

पूषा

इच्छाशक्ति

ब्रह्मरन्ध्र

विद्युत वर्ण

वायुऋषि

परावाचा

नासिका स्थान

द्विदल चक्र

हाकिनी

मन गुण

स्वर्ग लोक

स्वप्रकाश स्थान

अर्धचन्द्र कला

लाल समुद्र

यशस्विनी

विराट देह

आज्ञा चक्र

गान्धारी

हस्तिजिह्वा

सुषुम्ना

पिङ्गला

बृहस्पति शुक्र बुध सोम केतु फलप्रदा

वैखरी वाचा

मात्रा 32

यजुर्वेद

देवता विष्णु

कण्ठस्थान

जालन्धर बन्ध

सामीपता मुक्ति

सालोक्यता मुक्ति

सायुज्य मुक्ति

खेचरी मुद्रा

उकार मात्रा

स्वप्नावस्था

जप 2000

जनलोक

विशुद्ध चक्र

ऊँकार मातृका

पापहरण

तमोगुण

आनन्द स्थान

भानु ऋषि

पीत वर्ण

तुर्यावस्था

कल्पना

अहंकार

मणिपूरक चक्र

षट् दल कमल

स्वाधिष्ठान चक्र

क्षेत्र समुद्र

पवन ऋषि

तेजस अभिमानी

स्थानावस्था

उकार मातृका

पाताल लोक

समुद्र

नील वर्ण

त्वपद

चतुर्दल कमल

आकर्षण

डाकिनी

त्रिकोण

मूलाधार चक्र

मूल बन्ध

स्वयंभू

गणपति स्थान

कुण्डलिनी

PRODUCED BY SURENDER SHARMA

प्राण एव परं मित्रं प्राण एव परं सखा । प्राणतुल्यः परो बन्धुर्नास्ति नास्ति वरानने ॥

ह + ठ

योग

उत्पन्न कृमि दोषों को दूर करने वाला है। अतः इस सूर्यभेदन नामक प्राणायाम का उत्तम अभ्यास पुनः पुनः करना चाहिए।[1]

इस प्राणायाम को ग्रीष्म ऋतु में तथा अधिक पित्त वाले व्यक्तियों के लिए निषिद्ध माना गया है। इस प्राणायाम के प्रभाव से कपाल प्रदेश में उत्पन्न श्लेष्म, वात-वहा नाड़ियों के विकार, रक्तदोष, उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। सूर्य अग्नि स्वरूप है। उसी पर इस प्राणायाम का नामकरण हुआ है क्योंकि इस प्राणायाम को करने से शरीर में उष्णता की वृद्धि होती है। घेरण्डसंहिता के अनुसार यह सूर्यभेद संज्ञक कुम्भक वृद्धावस्था तथा मृत्यु का नाश करने वाला है। इससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है।[2]

2. उज्जायी

मुख को बन्द कर दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे इस प्रकार श्वास लेना चाहिए कि जिससे शब्द उत्पन्न हो, तथा जिससे कण्ठ से लेकर हृदय प्रदेश पर्यन्त उसके स्पर्श का अनुभव हो। पूर्ववत् कुम्भक करने के उपरान्त श्वास का इड़ा नाड़ी से रेचक कर देना चाहिए। इससे कण्ठ में उत्पन्न होने वाले कफ दोष दूर होते हैं तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा नाड़ी सम्बन्धी, जलोदर और धातु सम्बन्धी रोगों का निराकरण होता है। अतः इस प्राणायाम का अभ्यास चलते हुए तथा बैठते हुए भी करना चाहिए।[3]

योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मस्तिष्क की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं और देह की अग्नि की वृद्धि होती है।[4] इस प्राणायाम के प्रभाव से उदर सम्बन्धी रोगों का निवारण होता है। हृदय की धड़कन न्यून होती है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार इससे पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाते हैं, कफरोग, क्रूर वायु और अजीर्ण की उत्पत्ति नहीं होती। आमवात, क्षय, कांस, ज्वर, प्लीहा आदि रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। यहां तक कि इस प्राणायाम के सिद्ध होने पर जरा-मरण का भी नाश हो जाता है।[5]

---

1. ह० प्र०—2/48-50
2. घेरण्ड संहिता—5/67
3. ह०प्र०—2/51-53
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—28
5. घेरण्ड-संहिता—5/70-71

3. सीत्कारी

जिह्वा को दोनों ओष्ठों के मध्य रखकर मुख से सीत्कार करते हुए वायु का पूरक करना चाहिए तथा (वायु का) रेचक केवल नासारन्ध्र से ही करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से अभ्यासी कामदेव के समान सुन्दर बन जाता है।

वह योगाभ्यासी योगिनी समूहों द्वारा प्रशंसा प्राप्त करता है, वह सृष्टि और संहार करने में भी समर्थ होता है, और उसे कभी भी भूख-प्यास, निद्रा तथा आलस्य नहीं सताता। इस (प्राणायाम) का अभ्यासी बलयुक्त होकर शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करके सभी प्रकार के उपद्रवों से बचा रहता है और इस भूमिमण्डल में एक विख्यात योगी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।[1]

इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से रक्त की शुद्धि, उदर के रोगों का नाश, आलस्य का निवारण तथा मानसिक स्थिरता की प्राप्ति होती है। इसके अभ्यास से मुख पर पड़ने वाली झाईयां, झुरियाँ तथा पीलापन दूर होता है। यह प्राणायाम पित्तप्रकोप का शमन करके शरीर को सुन्दर बनाता है। भूख, प्यास और गर्मी के समय में यह अत्यन्त लाभकारी प्राणायाम माना जाता है।

4. शीतली

काकचंचुवत् जिह्वा को गोल बनाकर उसे दोनों ओष्ठों के मध्य स्थापित करके श्वास का पूरक करने के पश्चात् कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे बुद्धिमान् योगाभ्यासी को दोनों नासारन्ध्रों के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए।

इस शीतली कुम्भक के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा आदि अनेक रोग, ज्वर, पित्त, भूख, प्यास इत्यादि विकार तथा विष का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है।[2]

घेरण्ड-संहिता एवं योगकुण्डल्युपनिषद् में भी इसके लाभों का वर्णन उपलब्ध होता है कि इस प्राणायाम के अभ्यास से अजीर्ण, कफ-पित्त, गुल्म, प्लीहा, तृषा, ज्वर तथा विष सदृश रोगों का नाश होता है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/54-56
2. ह० प्र०—2/57-58
3. (क) घेरण्ड-संहिता—5/73
   (ख) योगकुण्ड०—31

इसके अतिरिक्त इससे शरीर में तेजस्विता तथा सुन्दरता की वृद्धि होती है और इससे उदर के कीड़ों का नाश एवं जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह प्राणायाम उच्च-रक्तचाप वालों के लिए बहुत अच्छा माना गया है। किन्तु सर्दी, जुकाम आदि से पीड़ित जनों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

5. भस्त्रिका

सम्यक् प्रकार से पद्मासन लगाकर, मेरुदण्ड तथा गर्दन को सीधा कर बुद्धिमान् को चाहिए कि मुख को बन्द करके उदरस्थ वायु को किसी भी एक नासारन्ध्र से यत्नपूर्वक इस प्रकार से बाहर निकाल दे कि शब्द करती हुई वायु हृदय, कण्ठ, तथा कपाल प्रदेश का स्पर्श करे। रेचक करने के उपरान्त शीघ्र ही वेगपूर्वक पुनः वायु का हृदय कमल पर्यन्त ग्रहण करना चाहिए। पुनः उपर्युक्त रीति से वायु का रेचक और पूरक करे। इस क्रिया को बार-बार उसी प्रकार से करना चाहिए जिस प्रकार लुहार के द्वारा वेगपूर्वक धौंकनी चलायी जाती है। इसका अभ्यास तब-तक करना चाहिए जब तक शरीर में थकान न आ जाये। थकावट होने पर साधक को दायें नासारन्ध्र से श्वास का ग्रहण करना चाहिए, जब वायु द्वारा उदर पूर्णरूप से भर जाये तब नासिका को मध्यमा तथा तर्जनी अँगुलियों से दृढ़ता रहित धारणा कर विधिपूर्वक कुम्भक कर वामनासारन्ध्र से वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार यह भस्त्रिका प्राणायाम वात-पित्त-कफ इत्यादि रोगों का निवारण करता है तथा इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से सुषुम्ना के मुख पर जमें हुए कफ आदि दोषों का नाश होता है फलस्वरूप सुखदायी तथा हितकारी प्राणवायु शीघ्र ही कुण्डली को जगाता है।

इसके अतिरिक्त यह भस्त्रिका प्राणायाम शरीर की तीनों ग्रन्थियों का सम्यक् प्रकार से भेदन करता है। अतः इसका अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए।[1] आरम्भिक काल में इस प्राणायाम का अधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक करने पर फुफ्फुसकोष पर ज्यादा दबाव पड़ने का भय रहता है।

6. भ्रामरी

इस प्राणायाम में वेगपूर्वक भ्रमर के समान आवाज करते हुए दोनों नासारन्ध्रों

---

1. ह० प्र०—2/59-67

से श्वास का पूरक कर भ्रमरी के समान शब्द करते हुए ही श्वास को बाहर निकाल देना चाहिए। यह रेचक क्रिया धीरे-धीरे करनी चाहिए। इसके निरन्तर अभ्यास से श्रेष्ठ साधकों के चित्त आनन्दयुक्त हो जाते है।[1]

स्वामी श्री कृष्णानन्द जी 'प्राणायामविषयक मेरा अनुभव' में लिखते हैं कि "सिद्धासन लगाकर नेत्र बन्द कर लें और भ्रू में लक्ष्य रखें तथा जालन्धर बन्ध लगा हो। इस प्राणायाम के समय जालन्धर बन्ध बराबर लगा रहना चाहिए।" फिर दोनों नासा-पुटों से भ्रमर के नाद के समान स्वरसहित पूरक करें। पश्चात् 3 सेकण्ड कुम्भक करके शनैः शनैः आवाज सहित रेचक करें। इस प्रकार 144 प्राणायाम करें। सुनते हैं कि भ्रामरी और मूर्छा कुम्भक का बौद्ध सम्प्रदाय में अधिक प्रचार था। इस कुंभक की पाँच अवस्थाएं हैं। प्रथमावस्था में कुछ दिन पूरक करके पश्चात् कुम्भक के समय महामुद्रा की जाती है। नियमपूर्वक तीन सेकण्ड का कुम्भक होने पर पुनः सिद्धासन लगा कर रेचक किया जाता है। पहले बायें पैर से, पीछे दाहिने पैर से, पश्चात् दोनों पैर फैला-कर महामुद्रा करके इस प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। दूसरे प्राणायामों के साथ की जाने वाली महामुद्रा में और भ्रामरी के साथ की इस महामुद्रा को कोई-कोई साधक 48 से 72 तक करते हैं। इसलिए एक वर्ष के पश्चात् जानु से 6 इंच आगे और गुल्फ से 10 इंच ऊपर के भाग में कपाल लग जाता है।

पहली अवस्था की सिद्धि होने के बाद दूसरी अवस्था में खेचरी करके 6 सेकण्ड का कुम्भक होता है और एक समय विधि के अनुसार मस्तिष्क को बायें से दाहिनी तरफ घुमाकर जालन्धर बन्ध लगाकर रेचक किया जाता है। इस रीति से 144 कुम्भक में 144 बार मस्तिष्क के घुमाने की क्रिया करनी पड़ती है। इस प्रकार तीसरी, चौथी और पाँचवीं अवस्था में कुम्भक बढ़ाया जाता है, तथा मस्तिष्क भी अधिक समय घुमाया जाता है। मस्तिषक घुमाने की क्रिया से मस्तिष्क में प्राणतत्त्व चारों और चक्कर लगता हुआ प्रतीत होता है। इस प्राणायाम की क्रिया के बाद नाद बहुत जोर से उठता है। इस-लिए मन की एकाग्रता शीघ्र होती है।[2]

7. मूर्च्छा

श्वास का पूरक करने के बाद दृढ़तापूर्वक जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। पुनः श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह मूर्च्छना नामक प्राणायाम मस्तिष्क में मूर्च्छा उत्पन्न करने वाला तथा सुखदायी है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/68
2. कल्याण का योगांक—पृ० 560-61
3. ह० प्र०—2/69

इस प्राणायाम को एक बार साध लेने पर भ्रामरी वाले सिद्धासन में तथा दूसरे अन्य प्राणायामों को सिद्ध करने वाले शवासन में भी नादानुसन्धान कर सकते हैं। वैसे इस प्राणायाम का अभ्यास भ्रामरी प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर ही करना श्रेयस्कर माना जाता है। इसके सिद्ध होने पर रेचक के समय जब नेत्रों को बन्द कर भ्रूमध्य में ध्यान लगाया जाता है तब वहाँ से प्राण तत्त्व का हल्का नीला (हल्के नीलम नग जैसा) प्रकाश दिखाई देता है। इसके निरंतर अभ्यास से मन शांत होता है। बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति हटकर ध्येय विषय पर केन्द्रित होती है और मन आत्मा में रमण करने लगता है। इसके निरंतर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा योगी समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह समाधि की प्रथमावस्था कही गई है। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यातव्य है कि उच्च रक्तचाप वालों के लिए यह प्राणायाम विवर्जित है।

घेरण्ड-संहिता के अनुसार पूर्वोक्त कुम्भक को करके विषयों से हटाकर मन को भौंहों के मध्य में स्थित आज्ञाचक्र में लगावें और इस पद्म में विद्यमान परमात्मा में लीन कर दें। इस मूर्च्छा कुम्भक की सिद्धि से आनन्द की प्राप्ति होती है, यह सत्य है।[1]

8. प्लाविनी

दोनों नासारन्ध्रों से उदर को पर्याप्त मात्रा में श्वास द्वारा पूर्ण रूप से भर लें, फिर धीरे-धीरे उसका रेचक करें। इसका अभ्यासी अथाह जल में भी कमलपत्र के समान आसानी से उतर सकता है।[2]

यह प्राणायाम उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण करता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर सम्बन्धी अनावश्यक कीटों का नाश, कब्ज का निवारण तथा वायु सम्बन्धी समस्त रोग इससे दूर होते हैं। इस प्राणायाम में मन की परमात्मा में लीनता, कुण्डलिनी शक्ति का जागरण तथा सिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ यह प्राणायाम समाधि में भी अत्यन्त सहायक होता है। इसके अतिरिक्त इस प्राणायाम का चालीस दिन अभ्यास करने से शरीर हल्का, वीर्य की वृद्धि तथा रक्त की शुद्धि होती है। उदर में वायु के विद्यमान रहने पर, साधक पानी में कमल पत्र की भाँति विचरण कर सकता है।

घेरण्ड-संहिता में प्राणायाम का आठवाँ भेद 'प्लाविनी' न मानकर 'केवली' प्राणायाम माना है। केवली कुम्भक में श्वास और प्रश्वास के साथ सोऽहं का उच्चारण

1. घेरण्ड-संहिता—5/82
2. ह० प्र०—2/70

आवश्यक है[1] जबकि हठयोग प्रदीपिकाकार ने कुम्भक के दो भेद सहित कुम्भक और केवल कुम्भक माने हैं।[2]

(क) **सहित कुम्भक**—जब प्राणायाम रेचक और पूरक के साथ किया जाए तब वह सहित कुम्भक कहलाता है और जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाए तब तक सहित कुम्भक का ही अभ्यास करना चाहिए।

(ख) **केवल कुम्भक**—रेचक-पूरक के बिना अपने आप जो उदर में वायु का धारण होता है, वह केवल कुम्भक कहा जाता है। इस केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर उस साधक के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। इसका साधक अपनी इच्छानुसार वायु धारण करने में सक्षम होकर राजयोग पद की प्राप्ति करता है। इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी का जागरण तथा उससे सुषुम्ना नाड़ी मल रहित होती है और हठयोग में सिद्धि की प्राप्ति होती है।[3]

प्राणायाम की समाप्ति कर ग्रन्थकार हठयोग सिद्धि का लक्षण देते हुए कहते हैं कि शरीर में हल्कापन, मुख पर प्रसन्नता, स्वर में सौष्ठव, नयन की तेजस्विता, रोग का अभाव, बिन्दु पर नियंत्रण, जठराग्नि की प्रदीप्ति तथा नाड़ियों की विशुद्धि, ये सब हठसिद्धि के लक्षण हैं।[4]

1. घेरण्ड-संहिता—5/83-86
2. ह० प्र०—2/71
3. ह० प्र०—2/72-75
4. वही—2/78

अध्याय-5

मुद्रा-निरूपण

प्राणायाम के सिद्ध होने पर मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण हेतु परमावश्यक है। मुद्राओं के निरूपण से पूर्व मुद्राओं के महत्त्व तथा प्रयोजन की चर्चा यहाँ आवश्यक प्रतीत होती है। शास्त्रों में तो स्पष्ट उक्त है कि बिना प्रयोजन के तो मंद भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता अतएव इनका प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु सब प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[1]

योग तन्त्रों में कुण्डलिनी कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों तथा उपनिषदों में प्राप्त होता है, इसका दूसरा नाम आधार शक्ति है और वह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उन सबकी मूल सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं तथा उनमें से एक मस्तक में प्रवेश करके अमरता की उपलब्धि कराती है। अन्यों से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती।[2] यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य सम्पादन करने के कारण निरालम्ब होकर शुद्ध चित्तस्वरूप में स्थित हो जाती है। यदि यह आधारशून्य हो जाएगी तो समस्त संसार की वस्तुएँ भी आधारहीन होकर नष्ट हो जायेंगी। ग्रन्थकार के शब्दों में जिस प्रकार पर्वतों तथा वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार शेषनाग है, उसी प्रकार सभी योग यन्त्रों का आधार कुण्डली है।[3] और जब गुरु के प्रसाद से यह प्रसुप्त कुण्डली जग जाती है, तब

---

1. (क) ह० प्र०—3/5
   (ख) शिव-संहिता—4/14
2. छान्दोग्योपनिषद्—8/6/6
3. ह० प्र०—3/1

सभी पद्म (मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि) तथा सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[1] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[2] इसके जागरण पर सुषुम्ना मार्ग प्राण हेतु राजपथ के समान सुखदायी हो जाता है। चित्तविषयों से हट जाता है तथा मृत्युभय नष्ट हो जाता है। इस सुषुम्ना नाड़ी के कई पर्यायवाची शब्द हैं जैसे शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग।[3]

अतः इसी कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए। इन मुद्राओं की संख्या दस है—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन।[4]

जबकि घेरण्ड संहिता में इनकी संख्या पच्चीस और गोरक्ष-संहिता में इनकी संख्या पाँच बताई गई है।[5] शिव-संहिता में मुद्राओं की संख्या दस बताते हुए इनको क्रमशः उत्तमोत्तम कहा है।[6]

हठयोग के अतिरिक्त मुद्राओं का उल्लेख तन्त्र साहित्य में भी प्राप्त होता है। इनका नाम क्रमशः डोम्बि, नटी, रजकी, ब्राह्मणी और चण्डाली है तथा इनकी संख्या पाँच मानी गई है।[7]

1. महामुद्रा

वाम पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा

---

1. (क) वही—3/2
   (ख) शिव-संहिता—4/13
2. घेरण्ड-संहिता—3/50
3. ह० प्र०—3/3-4
4. वही—3/6-7
5. (क) घेरण्ड-संहिता—3/1-3
   (ख) गोरक्ष-संहिता—1/56
6. शिव-संहित—4/58
7. Studies in the Tantras Part I by Prabodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939

सीधी हो जाती है और तब इड़ा और पिंगला मृतवत् हो जाती हैं तथा वायु सुषुम्ना मार्गी हो जाता है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, अत्यन्त शीघ्रता से नहीं। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसी कारण विद्वानों में श्रेष्ठों ने इसे महामुद्रा कहा है।

चन्द्र नाड़ी से अभ्यास करने के पश्चात् सूर्य नाड़ी से अभ्यास एवं जब दोनों की संख्या समान हो जाए तब इस मुद्रा को विसर्जित करना चाहिए। इस महामुद्रा के अभ्यासी के लिए पथ्य भोजन तथा अपथ्य भोजन नहीं रह जाता, रसहीन वस्तु भी रसयुक्त हो जाती है तथा विषतुल्य कुत्सितान्न भी अमृत के समान बन जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी के क्षय, कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, गुल्म, अजीर्ण तथा अनेक प्रकार के उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं। इस महामुद्रा को जो कि मनुष्य को महासिद्धि प्रदायक है, प्रयत्नपूर्वक गुप्त तथा किसी अधर्मी को नहीं बतानी चाहिए।[1]

गोरक्ष-संहिता[2] तथा घेरण्ड-संहिता[3] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

2. महाबन्ध

वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगायें तथा दक्षिण चरण को वाम-जङ्घा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए।

कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जालन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा-बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

यह महाबन्ध निश्चित ही महान् सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से

---

1. ह० प्र०—3/10-18
2. गोरक्ष-संहिता, प्रथम शतक
3. घेरण्ड-संहिता—3/6-7

सभी नाड़ियों की ऊर्ध्वगामिता रुक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोड़ने में सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों धाराओं (इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[1] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी सङ्गम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[2]

3. महावेध

महावेध की महत्ता का वर्णन हठयोगप्रदीपिका[3] तथा घेरण्डसंहिता[4] में इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार रूपयौवनसम्पन्ना स्त्री पुरुष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध ये दोनों ही महावेध के बिना व्यर्थ ही हैं। इसके अनन्तर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए।

तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे-धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिङ्गला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए।

इस महावेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, बालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

इन तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध) को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इनके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा ये अणिमा आदि सिद्धियों की प्रदाता मानी जाती हैं।

प्रतिदिन तीन घंटे तक आठ बार इनका अभ्यास करना चाहिए। ये (साधक को) सभी द्रव्यों को देने वाली और सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाली हैं। अच्छे

---

1. ह० प्र०—3/19-24
2. योगकर्णिका—8/38
3. ह० प्र०—3/25
4. घेरण्ड-संहिता—3/21

जानकार साधकों को भी इनका अभ्यास प्रारम्भ काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।[1]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय पाता है।[2]

4. खेचरी

योग-विज्ञान में यह तथ्य सर्वविदित है कि हमारे तालुमूल में एक विवर से चन्द्र-रसरूपी अमृत स्रवित होता रहता है तथा जो नाभि प्रदेश पर पहुंच कर भस्म हो जाता है, उसका नष्ट होना ही मृत्यु का हेतु है। अतः उसको यत्नपूर्वक नाभि प्रदेश तक न पहुंचने देना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा की प्रक्रिया में जिह्वा को इतना दीर्घ करना चाहिए कि वह भृकुटि प्रदेश का स्पर्श करने लगे। तब उसको वापिस मुख में उलट कर उस विवर तक ले जाकर उससे स्रवित होने वाले सार को जिह्वा द्वारा ग्रहण करना चाहिए, ऐसा करने से मृत्यु का भय सदा के लिए समाप्त हो जाता है। स्वयं ग्रन्थकार के अनुसार जिह्वा को उलटकर कपाल-छिद्र में प्रवेश कराने के पश्चात् दृष्टि को भृकुटि पर स्थापित करने से खेचरी मुद्रा कहलाती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं को तब तक करते रहना चाहिए जब तक जिह्वा का स्पर्श भृकुटि पर न हो जाए। जिह्वा की छेदन, चालन और दोहन प्रक्रिया बताते हुए आगे कहा गया है कि स्नुही के पत्ते के समान धार वाले चिकने और निर्मल शस्त्र के द्वारा जिह्वा को रोममात्रा में काट दें। तत्पश्चात् सैन्धव नमक तथा हरड़ के चूर्ण को सात दिन तक कटे हुए भाग पर मलना चाहिए। सात दिन पश्चात् पुनः रोम मात्रा में काट दें। साधक इसी क्रम का षट्मास पर्यन्त प्रति दिन अभ्यास करता रहे। छः मास तक इसी क्रिया को करने से जिह्वा मूल का आवरण हट जाता है।

तदनन्तर जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र में लगाना चाहिए, इसी को खेचरी मुद्रा तथा इसी को व्योमचक्र भी कहते हैं।

जो साधक आधे क्षण भी जिह्वा को विपरीत कर कपाल छिद्र में लगाता है, वह शीघ्र ही विष, रोग, मृत्यु तथा वृद्धावस्था आदि से मुक्त हो जाता है। जो खेचरी मुद्रा को जान जाता है, उसे रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास तथा मूर्च्छा आदि से मुक्ति

---

1. ह० प्र०--3/26-31
2. शिव-संहिता—4/28

मिल जाती है। वह कर्मों में लिप्त तथा काल से भी बाधित नहीं होता। इसमें चित्त भृकुटि रूपी शून्य में विचरण करता है तथा जिह्वा कपाल-कुहर रूपी आकाश में स्थित रहती है, इसी कारण से सिद्ध लोग इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं, इस के द्वारा जिस योगी ने जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु कामिनी के द्वारा आलिङ्गित होने पर भी स्खलित नहीं होता अर्थात् उसके बिन्दु की रक्षा होती है। यदि वह बिन्दु कदाचित् स्खलित हो जाए तथा योनि-मण्डल को प्राप्त कर ले तो भी वह बिन्दु योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध होने पर भी शक्ति से खींचकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है। जो योगवित् स्थिर रहकर जिह्वा को उलटाकर सोमपान करता है वह अर्धमास में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं क्योंकि जिस योगी का शरीर प्रतिदिन सोमद्रव्य से पूर्ण रहता है उसको सर्पदंश का विष नहीं चढ़ता तथा जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को और दीपक तेल तथा बाती को नहीं त्यागता, उसी प्रकार सोमद्रव्य से पूर्ण देही को आत्मा नहीं त्यागती। जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न अग्नि से जो चन्द्रद्रव्य स्रवित होता है, उसी को अमरवारुणी कहते हैं और यदि जिह्वा का अग्रभाग सदा कपालछिद्र का चुम्बन कर, उससे स्रवित होने वाले स्राव का ग्रहण करता रहे, तो जिह्वा को क्रमश: लवण, तीखा, खट्टा, दुग्ध, मधु तथा घृत के समान रसों का आस्वादन होने लगेगा।[1] उसके समस्त रोगों का नाश, वृद्धावस्था का निवारण, शस्त्र का प्रभाव नष्ट तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ उसके प्रति सिद्धांगनाएँ आर्कषित होती हैं।

जिह्वा को कपाल छिद्र में स्थिर करके ऊर्ध्व स्थित पराशक्ति का चिन्तन करते हुए, प्राणायाम के द्वारा षोडशदल-कमल से स्रवित निर्मल धारा की तरङ्गों के समान चन्द्ररस का जो साधक पान करता है, वह कमल डण्ठल के समान कोमलकाय प्राप्त कर व्याधि रहित होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है। जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एकमात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्था है, उसी प्रकार मुद्राओं में एकमात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है।[2]

5. उड्डीयान बन्ध

इसके नामकरण विषयक प्रसङ्ग के अनुसार सुषुम्ना नाड़ी में निरुद्ध प्राण-वायु

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/31-32
2. ह० प्र०—3/32-53

इस बन्ध के द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, क्योंकि इससे प्राणवायु रूपी पक्षी निरन्तर क्सुषुम्नामार्ग से शून्य में उड़ान भरता रहता है, इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। इस बन्ध की प्रक्रिया निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि साधक को रेचक करने के उपरान्त नाभिस्थल को ऊपरी की ओर तथा उदर को नीचे और पीछे की ओर खींचकर मेरुदण्ड के साथ लगाना चाहिए। यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी गज हेतु सिंह के समान है।

योगकुण्डल्युपनिषद् में इसको प्रथम स्थान न देकर द्वितीय स्थान पर रखा गया है।[1]

यदि कोई वृद्ध भी गुरु निर्दिष्ट मार्ग से एवं निरन्तर स्वाभाविक रूप से उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है तो वह भी युवक सदृश बन जाता है। इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास से साधक की मृत्यु पर विजय तथा उसको निश्चित ही मुक्ति प्राप्त होती है।[2]

इसके निरन्तर अभ्यास से नाभिचक्र की गति ठीक होती है, उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, फेफड़ों को असीम बल की प्राप्ति, वीर्य ऊर्ध्वगामी जठराग्नि प्रदप्ति होती है एवं कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी यह बन्ध सहायक सिद्ध होता है।

6. मूलबन्ध

दोनों पावों की किसी भी एक एड़ी से गुदेन्द्रिय तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग को दबाकर गुदा का आकुंचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। इसी को मूलबन्ध कहते हैं। अर्थात् अधोगामी अपानवायु को जो साधक गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुंचन के द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी कर लेता है, उसे ही योगीजन मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया में गुदेन्द्रिय प्रदेश को दबाकर बलपूर्वक बार-बार योनि का आकुंचन तब तक करते रहना चाहिए जब तक अपान वायु ऊर्ध्वगामी न हो जाए।[3]

घेरण्ड-संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबाए और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है तथा इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन) में

---

1. योगकुण्डल्युपनिषद्—41
2. ह० प्र०—3/54-59
3. ह० प्र०—3/60-62

छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[1]

इसके लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से प्राण तथा अपान वायु की एकता एवं नाद और बिन्दु में ऐक्य स्थापित होकर योगसिद्धि की प्राप्ति होती है। प्राण और अपान की एकता से मल और मूत्र की अल्पता होती है। यहाँ तक कि वृद्ध भी युवक सदृश बन जाता है।

जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब वह वह्नि-मण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुंचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को उष्ण बना देते हैं। इससे देह की अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है।

जब प्राणवायु और अपान वायु का घर्षण होता है, तब सोई हुई कुण्डलिनी सन्तप्त होकर जग जाती है तथा दण्ड से आहत हुई सर्पिणी की भांति फुन्कारती हुई सीधी हो जाती है और ब्रह्मनाड़ी में उसी प्रकार प्रवेश करती है जिस प्रकार सर्पिणी अपने बिल में प्रवेश करती है। अतएव योगियों को प्रति दिन मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[2]

इस प्रकार का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषद् में भी प्राप्त होता है।[3] इसके अतिरिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

7. जालन्धर बन्ध

सभी हठयोग के ग्रन्थों में इस बन्ध की चर्चा की गई है। कुछ प्राचीन योगियों के मतानुसार इस की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि उनके मतानुसार जिह्वा बन्ध होने पर जालन्धर बन्ध के समस्त लाभ योगी को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव जालन्धर बन्ध की विशेष उपयोगिता दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को समझ कर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा है कि 'कण्ठ को संकुचित करने के

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/14-17
2. ह० प्र०—3/63-68
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—43-45

उपरान्त ठोड़ी को हृदय-प्रदेश (कण्ठ-कूप) में दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहते हैं, जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है।[1]

शिव-संहिता में इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया है।[2]

इससे प्राप्त लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह बन्ध समस्त नाड़ी जाल को बांधता है जिससे निम्नगामी चन्द्ररस का बाध होने पर कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है।

शिव-संहिता में कहा है कि बुद्धिमान पुरुष इस बन्ध के द्वारा अमरवारुणी को पीकर अमरत्व तथा भुवनत्रय में प्रसन्नता को प्राप्त करता है।[3] कण्ठ-सङ्कोच वाले इस बन्ध को लगाने से चन्द्ररस जठराग्नि में नहीं गिरता तथा इससे वायु के विकार भी नहीं होते। यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है। यह मध्यचक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है। इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है। सोलह आधारों के नाम इस प्रकार हैं—(1) अंगुष्ठ (2) गुल्फ (3) जानु (4) ऊरू (5) सीवनी (6) लिङ्ग (7) नाभि (8) ग्रीवा (9) हृदय (10) कण्ठदेश (11) लम्बिका (12) नासिका (13) भ्रू मध्य (14) मस्तक (15) मूर्धा और (16) ब्रह्मरन्ध्र।

इन आधारों का बन्ध परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त इस बन्ध से मन में स्थिरता, मस्तिष्क सन्तुलित एवं विशुद्ध रहता है। कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का नाश तथा नेत्र, कर्ण, नासिका और ग्रीवा के लिए भी यह बन्ध उपयोगी है।

महासिद्धों के द्वारा इन तीनों बन्धों (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालंधर बन्ध) का सेवन श्रेष्ठ है तथा योगियों के मतानुसार ये सभी बन्ध हठतन्त्रों के साधन स्वरूप हैं।[4]

8. विपरीतकरणी मुद्रा

दिव्यरूप चन्द्रमण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है, उस सबको

---

1. ह० प्र०—3/69
2. शिव-संहिता—4/38
3. शिव-संहिता—4/39
4. ह० प्र०—3/75

नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरु के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से। नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्र-मण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त है।[1]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीत-करणी मुद्रा कहलाती है।[2]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरणी मुद्रा है।[3] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।

प्रारम्भकाल में एकक्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पांवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षणमात्रा में ही करनी चाहिए।

इस मुद्रा के छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियां तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[4]

9- वज्रोली

योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो

---

1. ह० प्र०—3/78
2. घेरण्ड-संहिता—3/33-34
3. शिव-संहिता—4/45
4. ह० प्र०—3/79-81

वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमश: जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिन्दु अथवा रज को आकर्षित करें।

इस प्रकार स्वबिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मृत्यु पर विजय पाता है क्योंकि बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। बिन्दु को शरीर में धारण करने वाले साधक के शरीर से सुगन्ध उत्पन्न होती है।

सहजोली और अमरोली भेदों से यह दो प्रकार की है। सहज़ोली क्रिया में साधक वज्रोली के उपरान्त गोबर के उत्तम भस्म को जल में मिलाकर अपने सम्पूर्ण अंगों पर लगाते हैं। यह शुभकारी सहजोली क्रिया भोगयुक्त होते हुए भी मुक्ति-दायिनी है।

वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्रवित होने वाले स्राव का पान ही अमरोली है। ज्योत्स्ना टीका के अनुसार जो पुरुष शिवाम्बुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है अर्थात् नासिकाछिद्र द्वारा अमरी को अंतर्गत करता है और प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिका के छिद्र से पान की अमरी वज्रोली के अनन्तर अमरोली कहलाती है।[1]

यदि कोई साधिका भी इस क्रिया को जानती है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाली, आकाशगामिनी एवं उसे कार्यसिद्धि की प्राप्ति होती है।[2]

10 शक्तिचालन

भारतीय दर्शनों में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम तीन सामान्य जन के लिए जहां सुलभ हैं वहीं चतुर्थ तुरीयावस्था की उपलब्धि केवल योगियों को ही होती है। प्रथम तीन अवस्थाओं में कुण्डलिनी (जीव की मार्मिक शक्ति) प्राय: सुप्तावस्था में रहती है और तुरीयावस्था में यह जागृत हो उठती है तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका—3/97
2. ह० प्र०—3/82-96

घेरण्ड-संहिता के अनुसार यह शक्ति मूलाधार से 4 अंगुल ऊपर 3/1-2 लपेटे खाकर सोई रहती है और जब तक यह सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है तब तक जीव पशु के समान इस मर्त्यलोक में विचरण करता है, कोटियोग का अभ्यास करने पर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[1]

जिस प्रकार कोई सामान्य जन चाभी से अवरोधक कपाट को खोलता है, उसी प्रकार योगी इस शक्ति के द्वारा मोक्षद्वार का भेदन करता है। डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र—अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्र-योगादि—यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषकार-सापेक्ष अथवा कर्त्तृत्वाभिमानजन्य हैं। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिए पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है, और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है ।[2]

स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि 'प्राणायाम से पहले त्रिकोण-मण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आंखें बन्द करके इसके चित्र की मन-ही-मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पना शक्ति जितनी अधिक है वे फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है। जितने दिन वह जागृत नहीं है उतने दिन सोचे—वह जग गयी है और इड़ा तथा पिंगला की गति अनुभव करने की चेष्टा करो, जोर देकर उनको सुषुम्ना पथ में चलाने की चेष्टा करो, इससे शीघ्र ही कार्य होगा।'[3]

1. घेरण्ड-संहिता—3/49/60
2. भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज
3. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ० 21

हठयोगप्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, यह कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग को मुख के द्वारा ढककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गङ्गा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिङ्गला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरुषार्थ से ही जगाना चाहिए, क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर स्थित इस शक्ति को प्रात: और सायं आधे प्रहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़ कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। आगे कन्दस्थान का लक्षण देते हुए कहा है कि लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊंचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तदनन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है। अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वही राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[1]

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महा-सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण-ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[2]

---

1. ह० प्र०—3/97-116
2. शिव-संहिता—4/58

अध्याय-6

समाधि

ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से साक्षी में निर्भासित होने लगता है, चित्त के ध्येयस्वरूपाविष्ट हो जाने के कारण 'अहमिदं चिन्तयामि' (मैं इसका चिन्तन करता हूँ) इत्यादि ज्ञानाकारक वृत्तियों का उदयन होने के कारण जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य-सा हो जाता है, तब वही समाधि कहलाने लग जाता है। अर्थात् ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाए और ज्ञानाकार रूप से उसका अलग निर्भास न हो, तब ध्यान ही समाधि है।[1]

ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग-अलग ज्ञान रहता है और समाधि में इनका पृथक्-पृथक् भान नहीं रहता, केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। यही समाधि और ध्यान में विभिन्नता है।[2]

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य परमात्मा को परमार्थतः देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।[3]

इस प्रकार एक समय में ब्रह्म के एक रूप का ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्म के अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप का ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूप का अपलाप करते हैं।[4]

सब प्रकार के सङ्कल्पों से सर्वथा शून्य हो जाने का नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधि में मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिट

---

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (पा० यो०—3/3)
2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 441
3. जाबालदर्शनोपनिषद्, 10 /12
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 421

जाता है। जीवात्मा का प्रत्यक् चैतन्य में सर्वव्यापी अन्तरात्मा में ब्रह्म के अतीन्द्रिय रूप में स्थित होना ही समाधि है। जीवात्मा के अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा जिसे निर्विकल्प 'परम अह' भी कहते हैं, क्षुद्र अहम् प्रत्यय से आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमान का कारण है। इस क्षुद्र अहम् बुद्धि के निवृत्त हो जाने पर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम ब्रह्म' का उदय होता है। अतः समाधिलाभ के लिए क्षुद्र अहं बुद्धि की निवृत्ति अवश्य है और वही समाधि है।[1]

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही 'समाधि' कहते हैं।[2]

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार 'मुनियों द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्था का नाम है जिसमें न तो मन की क्रिया है और न बुद्धि का व्यापार है, जो आत्मज्ञान की अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है'।[3]

अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार 'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मा से भिन्न देखने वाले तत्त्वदर्शी पुरुष की आन्तरिक शान्ति से उत्पन्न स्थिति का नाम समाधि है।'[4]

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार जैसे नमक पानी में मिल जाने से उसकी उसके साथ एकरूपता हो जाती है, वैसे ही आत्मा और मन की एकरूपता समाधि कही गई है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों की एकरूपता और समता हो जाने पर इच्छामात्र का अभाव हो जाता है और वही समाधि कही जाती है।[5]

हठयोगप्रदीपिकाकार ने कुण्डली जागरण तथा उसके परिणाम, लय, शाम्भवी और खेचरी मुद्रा का वर्णन करते हुए इन सभी को समाधि के मार्ग के रूप में निरूपित किया है और अन्त में नादानुसन्धान तथा नादश्रवण के परिणाम स्वरूप समाधि की अवस्था का सविस्तार विवेचन किया है।

कुण्डली

विविध आसन, कुम्भक, और विचित्र मुद्राओं का अभ्यास कुण्डली जागरण

1. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 422
2. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—16
3. मुक्तिकोपनिषद्—2/55
4. अन्नपूर्णोपनिषद्—1/29
5. ह० प्र०—4/1-7

हेतु किया जाता है क्योंकि इसके जागने पर प्राण शून्य अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में लीन हो जाता है और जब प्राण शून्य में गमन करता है तो उसके फलस्वरूप चित्त भी शून्य में प्रवेश कर जाता है। तभी साधक क्रिया-कलापों से मुक्त हो जाता है। इसी कारण से नित्यप्रति स्वच्छ स्थान पर बैठकर सुषुम्ना के यथार्थ भेदन को जानकर और प्राण को उसमें प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र में उसका निरोध करना चाहिए अतएव जब सुषुम्ना में प्राण चलने लगता है तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध होती है।[1]

लय

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी वायु है, वायु का स्वामी लय है और लय नाद पर आश्रित है। यह लय मत-मतान्तर में मोक्ष नाम से कही जाने वाली वस्तु हो या न हो, किन्तु यह सत्य ही है कि मन और प्राण के लय होने से किसी अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इस लय की प्राप्ति श्वास-प्रश्वास के निरुद्ध, विषय ग्रहण के बन्द, चेष्टारहित और विकाररहित साधकों को ही होती है। जहाँ मन एकाग्र हो वहीं लय होता है। उसी स्थान पर मस्तिष्क और जीवमात्र की शाश्वतशक्ति दोनों उस ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। क्योंकि विषय की विस्मृति ही लय है और उस स्थिति में वासनाओं का सदा अभाव रहता है।[2]

योगतत्त्वोपनिषद् में इस लय योग को अनेक प्रकार का बताया गया है और कहा गया है कि चित्त का लय योग है, यह बहुत तरह का कहा गया है। चलते, बैठते, सोते, खाते निष्कल परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।[3]

घेरण्ड-संहिता में लयसिद्धियोगसमाधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि योनिमुद्रा का साधन करके योगी स्वयं में शक्ति की भावना और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। पुनः ऐसी भावना करे कि मुझ में और परमात्मा में शक्ति और पुरुष रूप में विहार हो रहा है। फिर आनन्दमय ऐक्य स्थापित करता हुआ यह चिन्तन करे कि 'मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ' इससे जो समाधि होती है उसे लयसिद्धि योग कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०—4/8-20
2. ह० प्र०—4/21-33
3. (क) योगतत्त्वोपनिषद्—23
   (ख) योगकर्णिका—12/4
4. घेरण्ड-संहिता—7/12-13

खेचरी

खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में पहले भी चर्चा की जा चुकी है किन्तु यह मुद्रा समाधि का भी मार्ग है अतः इसका स्थान पुनः निरूपित किया जा रहा है।

जब प्राणवायु इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में संचरण करता है तो उसी स्थान पर खेचरी मुद्रा रहती है क्योंकि इन दोनों नाड़ियों के मध्य रहने वाला शून्य प्राणवायु को ग्रसता रहता है, इस मध्य को व्योमचक्र भी कहा है।

योगचूडामण्युपनिषद् में कहा गया है कि खे का तात्पर्य आकाश है और जिस मुद्रा के द्वारा चित्त आकाशगामी हो जाता है उसको खेचरी मुद्रा कहते हैं।[1]

चन्द्रमण्डल से स्रवित होने वाले अमृत को शिव की प्रिया (गङ्गा) भी कहते हैं। उसको मेरुदण्ड स्थित दिव्य और अनुपम सुषुम्ना के द्वारा पूरित करना चाहिए और जब सुषुम्ना पूर्व की ओर से भी पूरित हो जाए अर्थात् प्राणवायु जब भृकुटि के ऊपर के भाग में गमन करने लगता है, तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है और इस सिद्धि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि भृकुटि के मध्य शिव का स्थान है और वहीं मन लीन हो जाता है और वहीं यह अंतिम स्थान है क्योंकि वहाँ मृत्यु नहीं होती।

मन को निरालम्ब करके किसी भी प्रकार का चिन्तन नहीं करना चाहिए, इससे वह साधक बाह्य और आभ्यन्तर से घट के समान होकर आकाश में स्थित हो जाता है। जैसे-जैसे बाहर की वायु मन्द होकर गति करता है वैसे-वैसे प्राण भी लीन होता जाता है और तब मध्य प्राणवायु मन के साथ (ब्रह्मरन्ध्र में) स्थिरता को प्राप्त होती है।

इस मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से साधक को चाहिए कि वह सिर से पैर तक समस्त शरीर को चन्द्ररस रूपी अमृत से भर देवे, इससे साधक महाकाय, महाबल तथा पराक्रम से युक्त हो जाएगा और साधक आकाश में शून्य कुम्भ की भाँति अन्दर से शून्य तथा बाहर से भी शून्य हो जाए तथा समुद्र में भरे हुए कुम्भ की भाँति अन्दर से तथा बाहर से भी पूर्ण हो जाए क्योंकि यह समस्त संसार मन की ही रचना मात्र है तथा समस्त मनोविलास भी मन की ही रचना मात्र है अतएव मन को समस्त काल्पनिक रचनाओं से अलग कर निर्विकल्प (ब्रह्म) का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि इससे निश्चित ही शान्ति प्राप्त होगी।

इस खेचरी मुद्रा का तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए जब तक योगनिद्रा

---

1. योग० चू० उ०—55

प्राप्त न हो, क्योंकि योगनिद्रा अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर कभी कालभय नहीं रहता है। इस समाधि में सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलीन हो जाता है और मन के विलीन होते ही कैवल्य अर्थात् ब्रह्म ही शेष रह जाता है।[1]

नादानुसन्धान

अब लय से समाधि के ही अङ्गरूप नादानुसन्धान प्रक्रिया का निरूपण किया जा रहा है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि जिस काल में योगाभ्यास के बल से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लयभाव को प्राप्त हो जाती हैं, उसको परमगति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मी स्थिति निर्वाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसी को कहते हैं। यही बात शिवसंहिता में भी कही गई है 'जिस काल में सविकल्प समाधि के साधन से, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है मन दृश्य का चिन्तन छोड़कर वृत्ति-रहित हो जाता है, उस काल में साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है। यानी 'उपाधि-विलयात् विष्णो' के अनुसार, अज्ञान की कार्यरूप वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जीव ब्रह्म का स्वरूप से तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यास के बल से उस उपाधि का लय कर लेने पर जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। यही बात दक्षिणामूर्ति जी ने वेदान्तडिण्डिम में कही है—

"न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम्।" अर्थात् जीव ब्रह्म का स्फुरण रूपी वृत्ति से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं। चेतन में अविद्या की जो उपाधि जगत् की सत्यता, स्वरूप का विस्मरण, दृश्य में आसक्ति है, यही जीवदशा है।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य जी ने मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योगतारावली' ग्रन्थ में नीचे के श्लोकों में बताया है कि 'योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिवजी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं, उन सब में नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है आप परमपद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परमपद में लय हो जाएंगे। योगसाम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो सब चिन्ताओं को त्यागकर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो।

---

1. ह० प्र०—4/42-61

2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 271

सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ।।
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महेतुत्वपदं लयानाम् ।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे ।।
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ।।[1]

शिव-संहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है ।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य की भाँति श्री स्वात्माराम योगीन्द्र भी यही मानते हैं कि श्री आदिनाथ के द्वारा प्रोक्त लय के सवा करोड़ विद्यमान प्रकारों में से एक नादानुसन्धान ही मुख्यतम लय है ।[3] नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार बादलों के चले जाने पर सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार प्रारब्ध के समाप्त होने पर तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता का चिन्तन करने पर कल्याणकारी, ज्योतिर्मय परमात्मा का नादरूप में साक्षात्कार होता है ।[4]

योगी को मुक्तासन में बैठकर, शाम्भवी मुद्रा को सिद्ध करके, एकाग्रचित्त होकर दक्षिण कर्ण से अन्तस्थ नाद को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए ।[5] जबकि नादबिन्दूपनिषद् में वैष्णवी मुद्रा की ओर संकेत दिया गया है और मुक्तासन की जगह सिद्धासन का उल्लेख है ।[6]

इस नाद की चार अवस्थाएँ सभी योगों में मान्य हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ।

1. आरम्भावस्था—इस अवस्था में जब ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब योगी का मन शून्य होकर उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है । तत्पश्चात् शरीर में से विचित्र प्रकार की क्वणक रूपी अनाहत ध्वनि सुनाई देती है जिससे साधक दिव्य शरीर वाला तेजस्वी, दिव्य गन्ध युक्त, अरोगी, आह्लादक हृदय तथा शून्य से युक्त हो जाता है ।

2. घटावस्था—इस अवस्था में वायु निरुद्ध होकर सुषुम्नावाही हो जाता है,

---

1. कल्याण का योगाङ्क—271
2. शिव-संहिता—5/30
3. ह० प्र०—4/65
4. नादबिन्दूपनिषद्—30
5. ह० प्र०—4/67
6. नादबिन्दूपनिपद्—31

तब योगी दृढ़ासन होकर, अधिक ज्ञानी और देवतासदृश बन जाता है। इससे साधक की विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है, जिससे अतिशून्य में परमानन्द की सूचक भेरी के आघात सदृश शब्द उत्पन्न होने लगते हैं।

शिव-संहिता में कहा गया है कि यह अवस्था प्राणायाम के द्वारा ही संभव है तथा इस अवस्था में प्राण-अपान, नादबिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं।[1]

3. परिचयावस्था—इस अवस्था की प्राप्ति में जीव को शून्य में मर्दल ध्वनि का श्रवण होता है और तब सब प्रकार की सिद्धियों का आश्रय लेकर प्राण महाशून्य में गमन करता है। तब चित्त आनन्द को प्राप्त कर दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा और निद्रा आदि से रहित होकर सहजानन्द को प्राप्त करता है।

शिव-संहिता में वर्णित है कि इस अवस्था में योगी का प्राणवायु चन्द्र और सूर्य नाड़ी को त्याग कर सुषुम्नावाही होकर निश्चल हो जाता है तथा योगी त्रिकुट कर्मों को देखता हुआ अमरत्व को प्राप्त करता है।[2]

4. निष्पत्त्यवस्था—इस अवस्था की प्राप्ति में प्राणवायु रुद्रग्रन्थि का भेदन कर शिवस्थान को प्राप्त करता है और तब योगी को मिश्रित शब्दों वाली वीणा का स्वर सुनाई देता है। तभी योगी का चित्त एकाग्र होकर राजयोग समाधि हेतु बनता है और योगी ईश्वर सदृश सृष्टि का संहारक और कर्त्ता बन जाता है।

शिव-संहिता में इस अवस्था के द्वारा जीवन्मुक्त होना बताया है।[3]

इस प्रकार ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मोक्ष हो या न हो, किन्तु यहाँ पर ही एक अखण्ड सुख प्राप्त होता है, लय से उत्पन्न वह सुख राजयोग अर्थात् समाधि के द्वारा प्राप्त होता है। और जो जन राजयोग को नहीं जानते हुए केवल हठ-प्रक्रिया का ही अभ्यास करते हैं, वे साधक फलहीन प्रयास ही करते हैं।

इस नादानुसन्धान से समाधि प्राप्त करने वाले योगीश्वरों के हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है।[4] इस नादानुसन्धान की प्रथमावस्था में अनेक प्रकार के महान् नाद सुनाई देते हैं, और बाद में अभ्यास के दृढ़ होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं।

प्रथमकाल में समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झर ध्वनिसदृश, मध्य में ढोल, शङ्ख, घण्टा तथा घड़ियाल की ध्वनि के समान और अन्त में किङ्किणी, वेणु, वीणा तथा भ्रमर

---

1. शिव-संहिता—3/55-56
2. वही—3/60-65
3. वही—3/67,
4. ह० प्र०—4/68-80

निःस्वन की ध्वनि के समान नाना प्रकार के नादों का श्रवण शरीर के अन्दर से होता है। मेघ, भेरी आदि सुनाई देने वाले महान् ध्वनि वाले नादों में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद का ही श्रवण करना चाहिए और जिस किसी भी नाद में सर्वप्रथम मन लग जाए, उसमें ही स्थिर होकर उसके साथ ही लीन हो जाना चाहिए।

जिस प्रकार भ्रमर फूलों के रस का पान करता हुआ गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार नादासक्त चित्त बाह्य-विषयों की भी उपेक्षा नहीं करता। विषय-उद्यान में विचरण करने वाले मत्त गजेन्द्र रूपी मन को वश में करने के लिए यह नाद तीक्ष्ण अंकुश के समान है। क्योंकि नाद-बन्धन से बांधा गया (चंचल) मन अपनी चंचलता को त्याग कर छिन्न पंखों वाले पक्षी की भाँति शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त करता है।[1]

नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि यदि हम मन को हिरण और तरंग की संज्ञा प्रदान करें तो यह नाद उस हिरण को फांसने के लिए जाल का और तरंग को रोकने के लिए तट का काम देता है।[2]

जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न अग्नि काष्ठ के साथ ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार नाद में प्रवर्तित चित्त भी नाद के साथ लीन हो जाता है। इस प्रकार सभी हठ और लय के उपाय राजयोग की सिद्धि के लिए हैं। राजयोग से युक्त पुरुष मृत्युंजय हो जाता है। इस नादानुसन्धान से सदा पापों के संचय का नाश होता है और तब चित्त और वायु निश्चित रूप में उस निरंजन में विलीन हो जाते हैं और तब शङ्ख और दुंदुभि नाद कभी सुनाई नहीं देते अपितु उन्मनी-अवस्था की उत्पत्ति पर शरीर काष्ठवत् हो जाता है तथा वह साधक सभी अवस्थाओं से मुक्त और चिन्ताओं से रहित होकर मृतवान् रहता है।

समाधि फल

समाधि से युक्त योगी काल के द्वारा खाया नहीं जा सकता, कर्मों के द्वारा बांधा नहीं जा सकता तथा वह गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और न ही शब्द इन सबसे लिप्त होता है। उसका चित्त न तो सोया हुआ और न ही जागा हुआ रहता है। वह स्मृति तथा विस्मृति से दूर हो जाता है। वह योगी शीत-उष्ण, दुःख-सुख, मान-अपमान को नहीं जानता अर्थात् इन सब द्वन्द्वों से निर्लिप्त रहता है। इस अवस्था की प्राप्ति में योगी सब

---

1. ह० प्र०—4/83-91
2. नादबिन्दूपनिषद्—45

शास्त्रों से अबध्य रहता है। सब देहधारियों से वह अशक्य (बलवान्) और यन्त्र-मन्त्रों से अग्राह्य होता है तथा वह निश्चित रूप में मुक्त हो जाता है।

ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि जब तक सुषुम्ना में प्राणवायु का संचार नहीं हो जाता, जब तक प्राणवायु के नियन्त्रण से चन्द्ररस स्थिर नहीं हो जाता और जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र ही है[1]।इसी अवस्था की प्राप्ति ही हठयोग का परम उद्देश्य ह।

---

1. ह० प्र०—4/97-113

उपसंहार

अनवरत प्रवाहित हो रही हठयोग की प्रशस्त प्रक्रिया-प्रधान परम्परा से प्रभावित होकर ऋतम्भराप्रज्ञायुक्त जिन भारतीय मनीषियों ने क्रिया एवं अध्यात्मचिन्तन की जिस उत्कृष्ट ज्ञानराशि के द्वारा समस्त मानव जीवन को अत्यधिक उदात्त बनाने की धारणा की, उसी के सङ्कल्प रूपी ज्ञानकण प्राचीन काल से ही भारत भूविमण्डल में आकाश और दिशा के साथ परमाणुओं के शाश्वत संयोग की भाँति इस तरह संयुक्त हुए कि यही प्रक्रिया-प्रधान योग बौद्ध, जैन, तन्त्र इत्यादि योगों के रूप में प्रकटित हुआ। प्राचीन भारतीय संस्कृति रूपी गङ्गा के हठयोग रूपी तीव्रप्रवाही जल ने सभी धर्मों, दर्शनों, सम्प्रदायों एवं मतों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसा मुक्तिमार्ग प्रशस्त किया कि जिसका अनुगमन कर विभिन्न दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु सामान्य जनों ने भी अपने आपको कृतार्थ किया। इस हठयोग की समस्त मूर्धन्य व्यावहारिक गतिविधियों एवं सैद्धान्तिक मतों का चरम लक्ष्य, परम लक्ष्य की प्राप्ति है, जिसे हम मिथ्या भेद से उत्पन्न अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा, परमात्मा, जीव, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि की कल्पना रूपी कल्मषता से कलङ्कित करते हैं।

किन्तु शोचनीय विषय यह है कि हठयोग की इतनी महत्त्वपूर्ण प्रणाली का निश्चयात्मक ज्ञान अद्यावधि नहीं हो पाया है। हमारे देश में योग की कई प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्राचीनतम प्रणाली सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं के माध्यम से होती है। दूसरी प्रणाली बौद्ध योग की है। तीसरी प्रणाली पातञ्जल योग दर्शन के अन्तर्गत आती है। चतुर्थ प्रणाली के रूप में तन्त्र ग्रन्थों में योग सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। एतदनन्तर गोरक्ष प्रचलित पद्धति का दिग्दर्शन होता है। इस पद्धति के समय "भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्धजीवन, सात्त्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुंच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।"[1]

---

1. नाथसम्प्रदाय—229

योग की इन सब प्रणालियों में क्या-क्या सम्बन्ध रहा है तथा सिन्धु घाटी में उपलब्ध योग की प्रणाली किस प्रकार से उत्तरवर्त्ती प्रणालियों को प्रस्फुटित तथा पल्लवित करने में उत्तरदायी रही है तथा पातञ्जल योग, तन्त्रीय योग और हठयोग का परस्पर कितना अटूट सम्बन्ध रहा है……इस पर मूल स्रोतों के आधार पर गम्भीर इतिहास-परक गवेषणा की अत्यधिक आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निस्संकोच सिद्ध किया जा सकता है कि प्रस्तुत 'हठयोगप्रदीपिका' श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र की अनुपम प्रक्रिया प्रधान कृति होने के साथ-साथ दर्शन ग्रन्थों से भी अत्यधिक प्रभावित है। अनेक जटिल प्रसङ्गों यथा प्राणायाम, कुण्डलिनी, आसनों व नादानुसन्धान से प्राप्त लाभों का सविस्तर वर्णन और वज्रोली मुद्रा के द्वारा योगसिद्धि की प्राप्ति जैसे तार्किक विवेचनों के कारण हठयोगप्रदीपिका समस्त प्रक्रिया-प्रधान एवं साधना-प्रधान शास्त्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

पूर्व के अध्यायों में हठयोग के मूल ग्रन्थों उपनिषदों और विभिन्न हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों के द्वारा हठयोग के विभिन्न पक्षों पर किये गए चिन्तन का तुलनात्मक चित्र उपस्थापित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

हठयोग वास्तव में स्वास्थ्यवर्धक है और इसके फलस्वरूप जीवन में निर्वाह सुखपूर्वक होता है, यह इसका इहलौकिक लाभ है। इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा यह मानव दुःख के कारण कर्तृत्व भाव का नाशक है और अन्त में जीव की समाधि अवस्था में स्थित परमार्थ सुख और पारलौकिक सुख की प्राप्ति करवाता है। अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मोह मुग्ध जो जीव विपरीत ज्ञानकारिणी अविद्या के चक्र में पड़ कर संसार के यथार्थ स्वरूप से भटक रहे थे, उन्हें यह प्रस्तुत ग्रन्थ एक नई दिशा की प्रेरणा प्रदान करेगा। यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद-संहिता—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
2. अथर्ववेद-संहिता—श्रीकण्ठशास्त्री, माधवपुस्तकालय, कमला नगर, दिल्ली।
3. अपरोक्षानुभूतिः—(क) स्वामी विमुक्तानन्द (ख) पं० मनोहरलाल शर्मा।
4. कल्याणयोगाङ्क—गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1992
5. कुमारसम्भव—व्याख्याकार श्री जगदीशलाल शास्त्री, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, सन् 1965
6. काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्रम्—सम्पादक, श्री कैलाशपति पाण्डेय, प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2039
7. गोरक्ष-संहिता—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली (उत्तर प्रदेश) सन् 1982
8. गुह्य समाज तन्त्र—सम्पादक श्री एस. बाग्ची, मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, 1965
9. घेरण्ड-संहिता—वही 6, सन् 1981
10. घेरण्ड-संहिता—सम्पादक, श्रीश चन्द्र वसु, अड़यार मद्रास, 1933
11. जयेन्द्र योग प्रयोग—डा० रमेश कुमार, सम्पादक डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, मेघप्रकाशन ब्रह्मपुरी, दिल्ली, सन् 1982
12. दत्तात्रेय-योगशास्त्र—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, रूप नगर, दिल्ली
13. धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग पंचम—डा० पाण्डुरंग काणे, अनुवाद अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1973
14. नरपतिजयचर्यास्वरोदय—सम्पादक पण्डित गणेशदत्त पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1971
15. नाथ और संत साहित्य—डा० नगेन्द्र नाथ उपाध्याय, शोध-प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन
16. नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन, 1966

17. पातञ्जल योग दर्शन—सम्पादक पं० तुलसीराम, प्रकाशक स्वामी प्रेस, मेरठ, सन् 1977
18. पातञ्जल योग दर्शन—व्यास भाष्य, भोजवृत्ति सहित—अनुवादक श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, प्रकाशक—श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास चंडक, अजमेर नगर, सम्वत् 2018
19. पातञ्जल योगशास्त्र: एक अध्ययन—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली सन् 1978
20. प्रायोगिक योगशिक्षा—कुमारी अरुणा आनन्द, आनन्द प्रकाशन, नौरोजी नगर, दिल्ली, सन् 1982
21. ब्रह्मपुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, प्रकाशक संस्कृति संस्थान, बरेली सन् 1971
22. ब्रह्मसूत्र—श्री सत्यानन्द सरस्वती, प्रकाशन गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत् 2035
23. भगवद् गीता—डा० राधाकृष्णन्, प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सन् 1962
24. भागवतपुराण—प्रकाशक पंडित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, काशी, सन् 1952
25. भारतीय दर्शन—श्री एस० एन० दास गुप्ता प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर, 4
26. भारतीय दर्शन की रूपरेखा—एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1965
27. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1983
28. मनुस्मृति—प्रकाशक हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता, संस्करण 6, सम्वत् 1993
29. याज्ञवल्क्यस्मृति—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी—1 सन् 1967
30. योगकर्णिका—नाथ अघोरानन्द—सम्पादक श्री एन० एन० शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7, सन्, 1981
31. योग दर्शन—श्री वेदमूर्ति तपोनिष्ठ वही 20—तृतीय संस्करण 1969
32. योगप्रदीपिका—ब्रह्मचारी याज्ञवल्क्य—मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1981
33. योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र, प्रकाशक ऋषभ जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, सन् 1663
34. विष्णु-पुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, वही-20 सन् 1967
35. वैदिक कोष—श्री भगवद्दत्त—एँग्लो ओरियण्टल, विक्रम सम्वत् 1982
36. शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना—डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक हरिशंकर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, 1975

37. शिव-संहिता—श्री रायबहादुर, श्री चन्द्र वसु, प्रकाशक श्री सत्गुरु प्रकाशन, एम० एस० पी० सन् 1981
38. शिवस्वरोदय—अनुवादक पं० हरेकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक ठाकुर दास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी, सन्-1980
39. श्री धर्म्मकल्पद्रुम—चतुर्थ खण्ड—श्री स्वामी दयानन्द—प्रथम संस्करण नारायण प्रेस, बनारस, सन्-1917
40. षट्चक्र निरूपण और पादुकापञ्चम—तृतीय संस्करण, सम्पादक श्री तारानाथ विद्यारत्न, प्रकाशक बी०घोष, आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता सन्-1941
41. सन्त काव्य में योग का स्वरूप—डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह—प्रकाशन—अनुपम प्रकाशन पटना 1977
42. सरल राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रकाशन श्री रामकृष्ण आश्रम, मध्य प्रदेश
43. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—सम्पादिका—श्रीमती कल्याणी मलिक, प्रकाशन—पूना ओरियण्टल बुक हाउस, पूना 1954
44. सिद्धसिद्धान्त संग्रह—सम्पादक—श्री गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—श्री जयकृष्ण दास गुप्ता, गोपाल मन्दिर, बनारस, सन्-1925
45. हठयोगप्रदीपिका—संस्करणकर्ता स्वामी दिगम्बर जी, डा० पीताम्बर झा, कैवल्य-धाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला (पूना), सम्वत् 2035
46. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान वेदनगर, बरेली, उत्तर प्रदेश सन्-1982
47. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक पंचम सिंह, इण्डियन बुक सेन्टर, शक्तिनगर, दिल्ली, एस० एस० पी० सन् 1979
48. हठयोगप्रदीपिका—ब्रह्मानन्द रचित ज्योत्स्ना टीका सहित—सम्पादक श्री खेमराज, श्री वैङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, सम्वत्-1968
49. अन्नपूर्णोपनिषद्—उपनिषत् संग्रह—सम्पादक प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोती-लाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1980
50. अमृतनादोपनिषद्—वही
51. ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०-2010
52. कठोपनिषद्—वही—48
53. कौषीतकि उपनिषद्—वही—48
54. छान्दोग्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2023
55. जाबालदर्शनोपनिषद्—वही—48
56. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—वही
57. ध्यानविन्दूपनिषद्—वही
58. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—वही

59. मैत्रायण्युपनिषद्—वही
60. मुक्तिकोपनिषद्—वही
61. योगकुण्डल्युपनिषद्—वही
62. योगचूडामण्युपनिषद्—वही
63. योगतत्त्वोपनिषद्—वही
64. योगसाधना—वही—45
65. योगशिखोपनिषद्—वही—48
66. शाण्डिल्योपनिषद्—वही
67. श्वेताश्वतरोपनिषद्—वही
68. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—वही

आयुर्वेदग्रन्थ—

69. काश्यप-संहिता—प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी—1976
70. चरक-संहिता—सम्पादक—श्री जयदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सं०-1993
71. योगतरंगिणी—सम्पादक श्री खेमराज श्री कृष्णदास, "श्री वेङ्कटेश्वर" स्टीम प्रेस, बम्बई
72. सुश्रुतसंहिता—सम्पादक श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर, प्रकाशक–जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सं०-2007

अप्रकाशित—

73. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन—कुमारी सुरिन्द्र कौर, लघु शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन्-1983
74. Guhyasamaja Tantra or Tathagata guhyaka—Edited—Sh. Benoytosh Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda-1967
75. Studies in Tantras Part-1—Prabhodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939.
76. The Cultural Heritage of India—Vol. IV—Published by Swami Lokeswarananda, Secretary, The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta—1975.
77. Yoga—Historical background—Dr. C. T. Kenghe. Published by Bhattacharya, Bharata Manisha, Pande Haveli, Varanasi-1975.
78. Yogic and Tantric Medicine—Vol. II by O. P. Jaggi, Atma Ram and Sons, Delhi—1979.

प्रथमोपदेशः

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।। 1 ।।

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वत्मारामेण योगिना ।।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।। 2 ।।

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम् ।।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्माराम: कृपाकर: ।। 3 ।।

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते ।।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादत: ।। 4 ।।

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवा: ।।
चौरङ्गी मीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशया: ।। 5 ।।

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडि: ।।
कोरन्टक: सुरानन्द: सिद्धपादश्च चर्पटि: ।। 6 ।।

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जन: ।।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वय: ।। 7 ।।

अल्लाम: प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिन्टिणि: ।।
भानुकी नारदेवश्च खण्ड: कापालिकस्तथा ।। 8 ।।

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावत: ।।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ।। 9 ।।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठ: ।।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठ: ।। 10 ।।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ 11 ॥

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ 12 ॥

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजंन्तूज्झितम् ॥
बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥ 13 ॥

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ 14 ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥ 15 ॥

उत्साहोत्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ 16 ॥

अथ यमनियमाः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ 17 ॥

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥ 18 ॥

अथ आसनम्

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम् ॥ 19 ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ॥
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥ 20 ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ 21 ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ।। 22 ।।

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ।।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ।। 23 ।।

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ।। 24 ।।

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ।। 25 ।।

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धराम् ।।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ।। 26 ।।

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ।। 27 ।।

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ।।
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ।। 28 ।।

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम् ।।
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ।।29।।

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ।।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ।। 30 ।।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ।।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् 31 ।।

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ।। 32 ।।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ।। 33 ।।

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ।।
शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ।। 34 ।।

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ।। 35 ।।

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ।। 36 ।।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजननं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ 37 ॥

मतान्तरे तु

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ 38 ॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ 39 ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ 40 ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ 41 ॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ 42 ॥

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ॥ 43 ॥

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ 44 ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ 45 ॥

अथ पद्मासनम्

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ 46 ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ 47 ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ॥
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ 48 ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ 49 ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ 50 ॥

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ 51 ॥

अथ सिंहासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ 52 ॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ 53 ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः ॥
बन्धत्रितयसन्धानां कुरुते चासनोत्तमम् ॥ 54 ॥

अथ भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ 55 ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ 56 ॥

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ॥ 57 ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ 58 ॥

अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ 59 ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ 60 ॥

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥61॥

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम् ॥
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥
वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ 62 ॥

तथा हि गोरक्षवचनम्

वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ॥
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥ 63 ॥

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ॥
शुंठीपटोलकफलादिक पञ्च शाकम्
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥ 64 ॥

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ 65 ॥

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥ 66 ॥

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ 67 ॥

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ 68 ॥

पीटानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ 69 ॥

इति हठयोगप्रदीपिकायां प्रथमोपदेशः ॥

द्वितीयोपदेशः ।।

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ।। 1 ।।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ।। 2 ।।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।।
मरणं तस्य निश्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ।। 3 ।।

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ।।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ।। 4 ।।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ।। 5 ।।

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ।।
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ।। 6 ।।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ।। 7 ।।

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।। 8 ।।

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ।।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ।। 9 ।।

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ।।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ।।10।।

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ॥
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ 11 ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ॥
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ 12 ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ 13 ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यसेद् दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ 14 ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ 15 ॥

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ 16 ॥

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ 17 ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ 18 ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ 19 ॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनम् ॥ 20 ॥

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ 21 ॥

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ 22 ॥

कर्माष्टकमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥
विचित्रगुणसन्धायि पूज्यते योगपुङ्गवैः ॥ 23 ॥

तत्र धौतिः

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥ 24 ॥

कासश्वासप्लीहकुष्टं कफरोगांश्च विंशतिः ।।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः ।।25।।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ।।26।।

बस्तिकर्म

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ।।27।।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ।।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ।।28।।

अथ नेतिः

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ।।29।।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ।।30।।

अथ त्राटकम्

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।।31।।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।।32।।

अथ नौलिः

अमदावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ।।33।।

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि सन्धापिका नन्दकरी सदैव ।।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ।।34।।

अथ कपालभातिः

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥35॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥36॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ॥37॥

अथ गजकरणी

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥38॥

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्नन्तकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥39॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥40॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥41॥

अथ मनोन्मनी

मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥42॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान् ॥
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥43॥

अथ कुम्भकभेदाः

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ॥
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥44॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ॥
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥45॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥46॥

आपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत् ।।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ।।47।।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः । शिवसंहितायाम् अ० 3 श्लो० 7 ।

अथ सूर्यभेदनम्

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ।।48।।

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ।।49।।

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ।।50।।

योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये ।
उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ।। 1 ।।

गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् ।
शौचं कृत्वा दन्तशुद्धिं विदध्याद् भस्मधारणम् ।। 2 ।।

शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु ।
तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ।। 3।।

देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् ।
अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधि-
तत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये ।
अनन्तं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ।।4 ।।

मणिभ्रात्फणासहस्रविधृतविश्वम्भरा-
मण्डलायानन्ताय नागराजाय नमः ।
ततोभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् ।
अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ।।5।।

करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत् ।
जालन्धरप्रसादार्थं कुम्भकात्पूर्वयोगतः ।।6।।

विधायाचमनं कृत्वा कर्माङ्गं प्राणसंयमम् ।
योगीन्द्रादीन्नमस्कृत्य कौर्मीञ्च शिववाक्यतः ।।7।। **कूर्मपुराणे ।**

नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान् सच्छिष्यांञ्च विनायकम्।
गुरुं चैवाथवा योगी युञ्जीत सुसमाहितः ॥8॥

बद्धाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबन्धपूर्वकम् ।
प्रथमे दश कर्तव्या पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ॥ 9 ॥

कार्या अशीतिपर्यन्तं कुम्भकाः सुसमाहितैः।
योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चन्द्रसूर्ययोः ॥10॥

अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः।
सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः ॥11॥

उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः।
भस्त्रिकाञ्च समभ्यस्य कुर्यादन्यन्नवापरान् ॥12॥

मुद्राः समभ्यसेद्बद्धगुरुवक्त्राद् यथाक्रमम् ।
ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचिन्तनम् ॥13॥

अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः।
अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥14॥

स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः।
मध्याह्नेऽपि तथाभ्यस्य किञ्चिद्विश्रम्य भोजनम् ॥15॥

कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यन्न कदाचन ॥
एलां वापि लवङ्गं वा भोजनान्तं च भक्षयेत् ॥16॥

केचित्कर्पूरमिच्छन्ति ताम्बूलं शोभनं तथा ।
चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥17॥

भोजनानन्तरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम्।
पुराणश्रवणं वापि नामसङ्कीर्तनं विभोः ॥18॥

सायं सन्ध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत्।
यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ 19 ॥

अभ्यासानन्तरं कार्या सायंसन्ध्या सदा बुधैः ॥
अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥20।

विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः ।
नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ 21 ॥

अथोज्जायी ॥

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ 51 ॥

पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥ 52 ॥

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ 53 ॥

अथ सीत्कारी ॥

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ 54 ॥

योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ 55 ॥

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ॥ 56 ॥

अथ शीतली ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ 57 ॥

गुलमप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि ॥58॥

अथ भस्त्रिका ॥

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ 59 ॥

सम्यक् पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ 60 ॥

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ 61 ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ 62॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ 63 ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ 64 ॥

विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ 65 ॥

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ 66 ॥

सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ 67 ॥

अथ भ्रामरी ॥

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम् ॥
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥68॥

अथ मूर्च्छा

पूरकान्ते गाढतरं बध्वा जालन्धरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ 69 ॥

अथ प्लाविनी ॥

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥70॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥71॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ 72 ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ 73 ॥

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ 74 ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ 75 ॥

अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं बिना हठः ।।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ।। 76 ।।

कुंभकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ।। 77 ।।

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ।।78।।

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ।। 2 ।।

तृतीयोपदेश: ।

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ।। 1 ।।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ।।2।।

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ।। 3 ।।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ।। 4 ।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।। 5 ।।

अथ मुद्राभेदाः

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ।। 6 ।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ।। 7 ।।

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ।। 8 ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ।। 9 ।।

अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ 10 ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ 11 ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ 12 ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ 13 ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ 14 ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ 15 ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ 16 ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥17॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥18॥

अथ महाबन्धः ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ 19 ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥20॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥21॥

मतमत्र तु केषाञ्चित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ॥
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥22॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ।।23।।

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।।24।।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।।25।।

अथ महावेधः ।।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।।26।।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।।27।।

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।।28।।

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।।
वलीपलितवेपन्नः सेव्यते साधकोत्तमैः 29 ।।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यिणमादिगुणप्रदम् ।।30।।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ।।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।।31।।

अथ खेचरी ।।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतिगा ।।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।32।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।।33।।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।34।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।35।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति ॥36॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥37॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥38॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥39॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥40॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥41॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥42॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥43॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥44॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥45॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥46॥

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुम्प्रकृत्या विवेकवान् ।
पञ्चकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥
ब्रह्मवैवर्ते

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥
ब्रह्माण्डे

राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः ।
तज्ज्ञानी वसते यत्र सन्देशःपुण्यभाजनम् ।।
दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ।।
अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः
त्वया मयाप्यसो वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु का पुनः ।।
राजयोग, कूर्म्मपुराणे

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा ।
ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ।।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।।47।।

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ।।48।।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।।49।।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।। उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।।50।।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।। 51।।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ।।52।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।।
एको देवो निरालम्ब एकाधस्था मनोन्मनी ।।53।।

अथोड्डीयानबन्धः ।।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।।54।।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥55॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥56॥

उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥57॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥58॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥59।

अथ मूलबन्धः ॥

पार्ष्णि भागेन सम्पीडय योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥60॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥61॥

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ॥
वारंबारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥62॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ॥63॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥64॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽहता ॥65॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥
मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥

याज्ञवल्क्ये—

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥66॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥67॥

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥68॥

अथ जालन्धरबन्धः ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥69॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥70॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥71॥

कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥72॥

अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीकण्ठलिङ्गनाभयः ।
हृद्ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् ।
एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुङ्गवैः ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥73॥

अनेनेन विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥74॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥75॥

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥76॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥77॥

अथ विपरीतकरणी ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥78॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।।79।।

अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।।80।।

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।। 81।।

अथ वज्रोली ।।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।।82।।

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।।83।।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ।।84।।

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात् ।।85।।

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।।86।।

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।।87।।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् विन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ।।88।।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।।89।।

अथ सहजोलिः ।।

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम् ।।90।।

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापकयोः क्षणात् ।।91।।

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ।।92।।

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ।।93।।

अथामरोली ।।

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाग निसारतयान्त्यधारा ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली ।।94।।

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ।।95।।

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।।96।।

अथ शक्तिचालनम् ।।

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।।
कुंण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ।।97।।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।।98।।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।99।।

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ।।100।।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ।।101।।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी ।।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ।।102।।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ।।103।।

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।।104।।

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ।।105।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ।।106।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।।107।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।।108।।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।।109।।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्नायां समुद्गता ।।110।।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ।।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ।।111।।

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।।
तस्माः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।।112।।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।।113।।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।।
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगिनः ।।114।।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।।115।।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ।।116।।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।।117।।

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्राभद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ।।118।।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ।।119।।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।।120।।

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।।121।।

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।।122।।

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ।।123।।

इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ।।3।।

चतुर्थोपदेशः ।

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने ।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ।।1।।

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ।।2।।

राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ।।3।।

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ।।4।।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ।।5।।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ।।6।।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ।।7।।

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ।।8।।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।।9।।

विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि ।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ।।10।।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ।।11।।

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥12॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥13॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥14॥

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः ॥15॥

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ॥16॥

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिन्दिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥17॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ॥
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थका ॥18॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥19॥

सुषुम्ना वाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥20॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥21॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिन्तौ द्वावपि नश्यतः ॥22॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥23॥

दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥
यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥24॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥25॥

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।।
रसो बद्धो मनो बद्धं किन्न सिद्ध्यति भूतले ।।26।।

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ।।27।।

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ।।28।।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ।। 29 ।।

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे ।।
मनः प्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते ।। 30 ।।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ।। 31 ।।

उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ।। 32 ।।

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ।।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ।। 33 ।।

अथ शाम्भवी मुद्रा

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।। 34 ।।

अन्तर्लक्ष्यं वहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ।। 35 ।।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शाम्भवम् ।। 36 ।।

श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ।।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ।। 37 ।।

अथोन्मनी ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ ॥
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ 38 ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ 39 ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः
चद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्दभावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ 40 ॥

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ 41 ॥

अथ खेचरी ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ 42 ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ 43 ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालवान्तरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ 44 ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ 45 ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते ॥ 46 ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते । 47 ॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ 48 ॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ।। 49

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ।। 50

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ।। 51 ।।

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ।। 52 ।।

इति खेचरी ।।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ।। 53 ।।

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। 54 ।।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ।।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ।। 55 ।।

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। 56 ।।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ।।57।।

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ।। 58 ।।

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ।। 59 ।।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ।। 60 ।।

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ।। 61 ।।

एवं नानाविधोपायाः सम्यक् स्वानुभवान्विताः ।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ।। 62 ।।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ।। 63 ।।

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् ।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ।। 64 ।।

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ।। 65 ।।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्ध्याय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः ।। 66 ।।

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।।
शुद्धासुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ।। 67 ।।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ।। 68 ।।

अथारम्भावस्था ।।

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदोत्थानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ।। 69 ।।

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत् ।। 70

अथ घटावस्था ।।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ।।71।।

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ।। 72 ।।

अथ परिचयावस्था ॥

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ 73 ॥

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ 74 ॥

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ 75 ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ 76 ॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ 77 ॥

राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ 78 ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसन्धायी जायते नादजो लयः ॥ 79 ॥

नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ 80 ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ 81 ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ 82 ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते बहुसूक्ष्मकः ॥ 83 ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ।। 84 ।।

अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः 85 ।।

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ।। 86 ।।

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ।। 87 ।।

यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ।। 88 ।।

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ।।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते ।। 89 ।।

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।।
नियमने समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ।। 90 ।।

बद्धं तु नादबन्धेन मनः सन्त्यक्तचापलम् ।।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ।। 91 ।।

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ।। 92 ।।

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ।।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ।। 93 ।।

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ।। 94 ।।

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् ।।
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेटनम् ।। 95 ।।

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः ।।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ।। 96 ।।

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ।। 97 ।।

घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्तःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसन्धानप्रवीणश्चेत् ॥98॥

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ 99 ॥

तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ 100 ॥

यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ 101 ॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ॥ 102 ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ 103 ॥

सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसञ्चयाः ॥
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ 104 ॥

शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यवस्थया ध्रुवम् ॥ 105 ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ 106 ॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ 107 ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ 108 ॥

चित्तं न सुप्तं नोजाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ 109 ॥

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ 110 ॥

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।।
निःश्वासोच्छ्‌वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ।। 111 ।।

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ।। 112 ।।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्विन्दुर्न भवति दृढप्राणवानप्रबन्धात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ।। 113 ।।

इति हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ।। 4 ।।

नोट—मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची के क्रम

क्रम संख्या 9 में 6 के स्थान पर 7
,, ,, 31 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 34 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 64 में 45 के स्थान पर 46
,, ,, 65 में 48 के स्थान पर 49 पाठ पढ़ा जाये ।

श्लोकानुक्रमणी

(अ)

(आ)

(इ)

(उ)

(ऊ)

(ऋ)

(ए)

(क)

(ह)

अनुक्रमणी

सांख्य-दर्शन का इतिहास

अनु० — डॉ० शिव कुमार

प्रस्तुत पुस्तिका ए० बी० कीथ की **The Sāṁkhya System** नामक पुस्तक का अनुवाद है। कीथ की यह पुस्तक प्राचीनता, सारगर्भितता, विशदता एवं सर्वाङ्गीण विवेचन के उपरान्त भी आङ्गल भाषा में होने के कारण सांख्य दर्शन के अध्येताओं का यथोचित ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। अतः इसका हिन्दी अनुवाद आवश्यक समझा गया।

विषय की विविधता के आधार पर पुस्तक को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। **प्रथम अध्याय** में उपनिषदों में उपलब्ध सांख्य का वर्णन है। **दूसरे अध्याय** में सांख्य और बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन है। **तीसरे अध्याय** में विकसनशील महाकाव्यों में सांख्य के स्वरूप का विवेचन है। **चतुर्थ अध्याय** में सांख्य और योग का काल-क्रम की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन है। **पांचवें अध्याय** में सांख्य के एक प्राचीन परन्तु अनुपलब्ध ग्रन्थ षष्टितन्त्र का विवेचन है। **छठे अध्याय** में ग्रीक और सांख्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन है। **सातवें अध्याय** में सांख्य-कारिका और **अन्तिम आठवें अध्याय** में उत्तरवर्ती सांख्य-दार्शनिकों के योगदान का विवेचन है। आशा है प्रस्तुत अनुवाद कीथ के विचारों को हिन्दी माध्यम से सांख्य दर्शन के अध्येताओं तक सुगमता से प्रेषित कर सकेगा।

मूल्य : रु० ५०.००